CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवेकोदय

M527

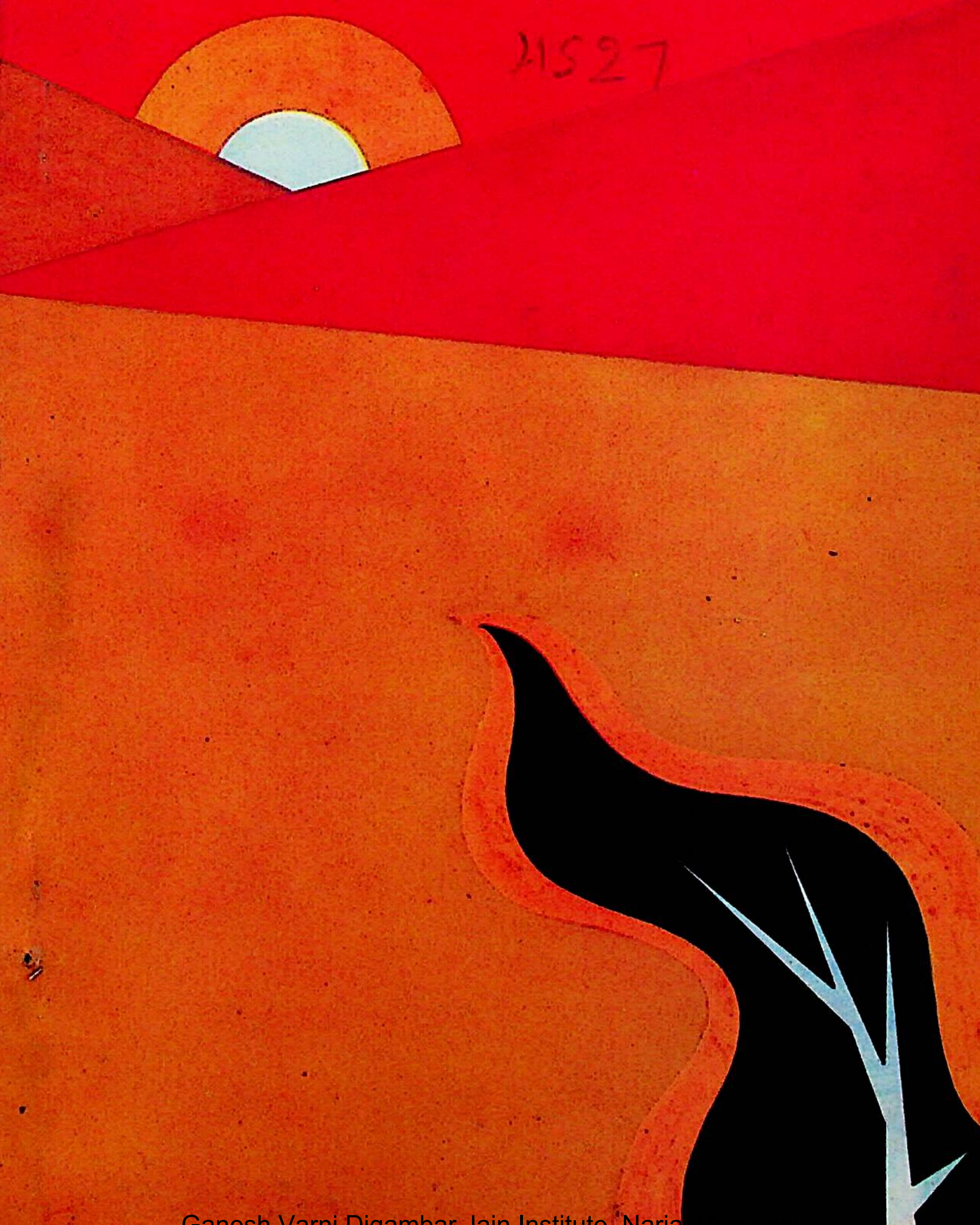

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

114

विवेकोदय

—: लेखक :—
क्षु. १०५ श्री ज्ञानभूषण जी महाराज
(आचार्य ज्ञानसागर जी)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेरक प्रसंग : प. पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परमशिष्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, क्षु. श्री गम्भीरसागरजी, क्षु. श्री धैर्यसागर जी महाराज के ऐतिहासिक १९९४ के श्री सोनी जी की नसियां, अजमेर के चातुर्मास के उपलक्ष्य में प्रकाशित।

ट्रस्ट संस्थापक : स्व. पं. जुगल किशोर मुख्तार

ग्रन्थमाला सम्पादक एवं नियामक : डॉ. दरबारी लाल कोठिया न्यायाचार्य, बीना (मध्य प्रदेश)

संस्करण : द्वितीय

प्रति : 2000

मूल्य : स्वाध्याय
(नोट :- डाक खर्च भेजकर प्रति निशुल्क प्राप्ति स्थान से मंगा सकते है।

प्राप्ति स्थान :

* सोनी मंन्दिर ट्रस्ट
सोनीजी की नसियाँ, अजमेर (राज.)

* डा. शीतलचन्द जैन
मंत्री – श्री वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
१३१४ अजायब घर का रास्ता, किशनपोल बाजार, जयपुर

* श्री दिगम्बर जैन मन्दिर अतिशय क्षेत्र
मन्दिर संघी जी, सांगानेर जयपुर (राज.)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशीर्वाद एवं प्रेरणा :

मुनि श्री सुधासागरजी महाराज एवं
क्षु. श्री गंभीर सागरजी, एवं क्षु. श्री धैर्य सागरजी महाराज

4527

सौजन्यता :

श्री जयकुमार जी महेन्द्र कुमार जी जैन
...केसरगंज .अजमेर.....

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन समिति एवं सकल दिगम्बर जैन समाज,
अजमेर (राज.)

प्रकाशन :
वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट,

मुद्रण एवं लेज़र टाइप सैटिंग :
निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्टर्स
पुरानी मण्डी, अजमेर फोन 22291

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

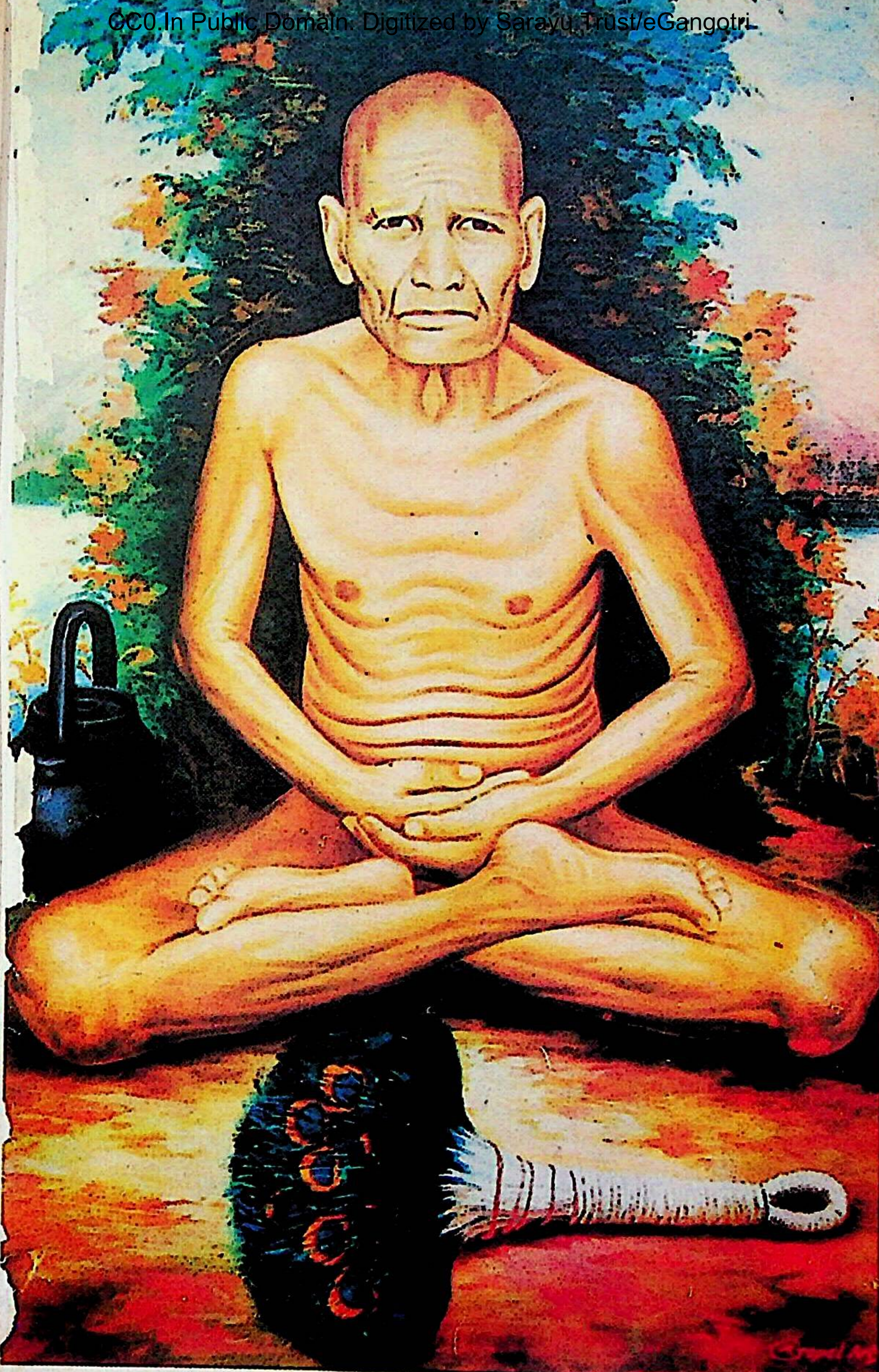

दिगम्बर जैनाचार्य १०८ श्री ज्ञानसागर मुनि महाराज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय समर्पण

पंचाचार युक्त
महाकवि, दार्शनिक विचारक,
धर्मप्रभाकर, आदर्श चारित्रनायक, कुन्द-कुन्द
की परम्परा के उन्नायक, संत शिरोमणि, समाधि सम्राट,
परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों में
एवं
इनके परम सुयोग्य
शिष्य ज्ञान, ध्यान, तप युक्त
जैन संस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,
वात्सल्य मूर्ति, समता स्वाभावी, जिनवाणी के यथार्थ
उद्घोषक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि
श्री सुधासागर ज़ी महाराज के कर कमलों में
सकल दि. जैन समाज एवं दिगम्बर जैन समिति,
अजमेर (राज.) की ओर से
सादर समर्पित ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

जैन साहित्य और इतिहास के मर्मज्ञ एवं अनुसंधाता स्वर्गीय सरस्वतीपुत्र पं. जुगल किशोर जी मुख्तार "युगवीर" ने अपनी साहित्य इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान- प्रवृत्तियों को मूर्तरुप देने के हेतु अपने निवास सरवासा (सहारनपुर) में "वीर सेवा मंदिर" नामक एक शोध संस्था की स्थापना की थी और उसके लिए क्रीत विस्तृत भूखण्ड पर एक सुन्दर भवन का निर्माण किया था, जिसका उद्घाटन वैशाख सुदि 3 (अक्षय-तृतीया), विक्रम संवत् 1993, दिनांक 24 अप्रैल 1936 में किया था। सन् 1942 में मुख्तार जी ने अपनी सम्पत्ति का "वसीयतनामा" लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। "वसीयतनामा" में उक्त "वीर सेवा मन्दिर" के संचालनार्थ इसी नाम से ट्रस्ट की भी योजना की थी, जिसकी रजिस्ट्री 5 मई 1951 को उनके द्वारा करा दी गयी थी। इस प्रकार पं. मुख्तार जी ने वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट की स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहास के अनुसन्धान कार्य को प्रथमतः अग्रसारित किया था।

स्वर्गीय बा. छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला. राजकृष्ण जी दिल्ली, रायसाहब ला. उल्फतरायजी दिल्ली आदि के प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु. गणेश प्रसाद जी वर्णी (मुनि गणेश कीर्ति महाराज) के आशीर्वाद से सन् 1948 में श्रद्धेय मुख्तार साहब ने उक्त वीर सेवा मन्दिर का एक कार्यालय उसकी शाखा के रुप में दिल्ली में,उसके राजधानी होने के कारण अनुसन्धान कार्य को अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलने के उद्देश्य से, राय साहब ला.उल्फतरयजी के चैत्यालय में खोला था।पश्चात् बा. छोटे लालजी,साहू शान्तिप्रसादजी और समाज की उदारतापूर्ण आर्थिक सहायता से उसका भवन भी बन गया, जो 21 दरियागंज दिल्ली में स्थित है और जिसमें "अनेकान्त" (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं। इसी भवन में सरसावा से ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैनविद्या के विभिन्न अङ्गो पर अनुसन्धान करने के लिये विशेष उपयोगी और महत्वपूर्ण है।

वीर-सेवा मन्दिर ट्रस्ट गंथ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धान का कार्य कर रहा है। इस ट्रस्ट के समर्पित वयोवृद्ध पूर्व मानद मंत्री एवं वर्तमान में अध्यक्ष डा. दरबारी लालजी कोठिया बीना के अथक परिश्रम एवं लगन से अभी तक ट्रस्ट से 38 महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। आदरणीय कोठियाजी के ही मार्गदर्शन में ट्रस्ट का संपूर्ण कार्य चल रहा है। अतः उनके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करते हैं और कामना करते हैं कि वे दीर्घायु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होकर अपनी सेवाओं से समाज को चिरकाल तक लाभान्वित करते रहें। ट्रस्ट के समस्त सदस्य एवं कोषाध्यक्ष माननीय श्री चन्द संगल एटा, तथा संयुक्त मंत्री ला.सुरेशचन्द्र जैन सरसावा का सहयोग उल्लेखनीय है। एतदर्थ वे धन्यवादार्ह हैं।

संत शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी के परम शिष्य पूज्य मुनि 108 सुधासागर जी महाराज के आर्शीवाद एवं प्रेरणा से दिनांक 9 से 11 जून 1994 तक श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी सागांनेर में आचार्य विद्यासागरजी के गुरु आचार्य प्रवर ज्ञानसागरजी महाराज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व परअखिल भारतीय विद्वत संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। इस संगोष्ठी में निश्चय किया था कि आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन किसी प्रसिद्ध संस्था से किया जाय। तदनुसार समस्त विद्वानों की सम्मति से यह कार्य वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट ने सहर्ष स्वीकार कर सर्वप्रथम वीरोदयकाव्य के प्रकाशन की योजना बनाई और निश्चय किया कि इस काव्य पर आयोजित होने वाली गोष्ठी के पूर्व इसे प्रकाशित कर दिया जाय। परम हर्ष है कि पूज्य मूनि 108 सुधासागार महाराज का संसघ चातुर्मास अजमेर में होना निश्चय हुआ और महाराज जी के प्रवचनों से प्रभावित होकर श्री दिगम्बर जैन समिति एवम् सकल दिगम्बर जैन समाज अजमेर ने पूज्य आचार्य ज्ञान सागर जी महाराज के वीरोदय काव्य सहित समस्त ग्रन्थों के प्रकाशन एवं संगोष्ठीं का दायित्व स्वयं ले लिया और ट्रस्ट को आर्थिक निर्भार कर दिया। एतदर्थ ट्रस्ट अजमेर समाज का इस जिनवाणी के प्रकाशन एवं ज्ञान के प्रचार प्रसार के लिये आभारी है।

प्रस्तुत कृति **विवेकोदय** के प्रकाशन में जिन महानुभावों ने आर्थिक सहयोग एवं प्रूफ रिडिंग में श्री कमलकुमारजी बड़जात्या ने अथक परिश्रम किया तथा मुद्रण में निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स, अजमेर ने उत्साह पूर्वक कार्य किया है। वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में उस संस्था के भी आभारी है जिस संस्था ने पूर्व में यह ग्रन्थ प्रकाशित किया था। अब यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है। अतः ट्रस्ट इसको प्रकाशित कर गौरवान्वित है। जैन जयतुं शासनम्।

दिनाङ्क : 13-14-15 अक्टूबर 1994
वारोदय महाकाव्य पर अ. भा. विद्वत संगोष्ठी

डॉ. शीतल चन्द जैन
मानद मंत्री
वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट
1314 अजायव घर का रास्ता, किशनपोल बाजार, जयपुर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य श्री ज्ञानसागर जी की जीवन यात्रा आँखों देखी

आलेख - निहाल् चन्द्र जैन्
सेवा निवृत्त प्राचार्य
मिश्रसदन सुन्दर विलास, अजमेर

प्राचीन काल से ही भारत वसुन्धरा ने अनेक महापुरुषों एवं नर-पुंगवों को जन्म दिया है। इन नर-रत्नों ने भारत के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं शौर्यता के क्षेत्र में अनेकों कीर्तिमान स्थापित किये हैं। जैन धर्म भी भारत भूमि का एक प्राचीन धर्म हैं, जहाँ तीर्थंकर, श्रुत केवली, केवली भगवान के साथ साथ अनेकों आचार्यों, मुनियों एवं सन्तों ने इस धर्म का अनुसरण कर मानव समाज के लिए मुक्ति एवं आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है।

इस १९-२० शताब्दी के प्रथम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य, चारित्र चक्रवर्ती आचार्य १०८ श्री शांतिसागर जी महाराज थे जिनकी परम्परा में आचार्य श्री वीर सागरजी, आचार्य श्री शिव सागरजी इत्यादि तपस्वी साधुगण हुये। मुनि श्री ज्ञान सागरजी आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से वि. स. २०१६, में खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा लेकर अपने आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ़ हो गये थे। आप शिवसागर आचार्य महाराज के प्रथम शिष्य थे।

मुनि श्री ज्ञान सागर जी का जन्म राणोली ग्राम (सीकर-राजस्थान) में दिगम्बर जैन के छाबड़ा कुल में सेठ सुखदेवजी के पुत्र श्री चतुर्भुज जी की धर्म पत्नि घृतावरी देवी की कोख से हुआ था। आपके बड़े भ्राता श्री छगनलालजी थे तथा दो छोटे भाई और थे तथा एक भाई का जन्म तो पिता श्री के देहान्त के बाद हुआ था। आप स्वयं भूरामल के नाम से विख्यात हुये। प्रारम्भिक शिक्षा गाँव के प्राथमिक विद्यालय में हुई। साधनों के अभाव में आप आगे विद्याध्ययन न कर अपने बड़े भाई जी के साथ नौकरी हेतु गयाजी (बिहार) आगये। वहां १३-१४ वर्ष की आयु में एक जैनी सेठ के दुकान पर आजीविका हेतु कार्य करते रहे। लेकिन आपका मन आगे पढ़ने के लिए छटपटा रहा था। संयोगवश स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के छात्र किसी समारोह में भाग लेने हेतु गयाजी (बिहार) आये। उनके प्रभावपूर्ण कार्यक्रमों को देखकर युवा भूरामल के भाव भी विद्या प्राप्ति हेतु वाराणसी जाने के हुए। विद्या-अध्ययन के प्रति आपकी तीव्र भावना एवं दृढ़ता देखकर आपके बड़े भ्राता ने १५ वर्ष की आयु में आपको वाराणसी जाने की स्वीकृति प्रदान कर दी।

श्री भूरामल जी बचपन से ही कठिन परिश्रमी अध्यवसायी, स्वावलम्बी, एवं निष्ठावान थे। वाराणसी में आपने पूर्ण निष्ठा के साथ विद्याध्ययन किया और संस्कृत एवं जैन सिद्धान्त का गहन अध्ययन कर शास्त्री परीक्षा पास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की । जैन धर्म से संस्कारित श्री भूरामल जी न्याय, व्याकरण एवं प्राकृत ग्रन्थों को जैन सिद्धान्तानुसार पढ़ना चाहते थे, जिसकी उस समय वाराणसी में समुचित व्यवस्था नहीं थी । आपका मन क्षुब्ध ही उठा, परिणामत: आपने जैन साहित्य, न्याय और व्याकरण को पुन:र्जीवित करने का भी दृढ़ संकल्प ही लिया । अडिग विश्वास, निष्ठा एवं संकल्प के धनी श्री भूरामल जी ने कई जैन एवं जैनेन्तर विद्वानों से जैन वाँङ्गमय की शिक्षा प्राप्त की । वाराणसी में रहकर ही आपने स्याद्वाद महाविद्यालय से "शास्त्री" की परीक्षा पास कर आप पं. भूरामल जी नाम से विख्यात हुए । वाराणसी में ही आपने जैनाचार्यों द्वारा लिखित न्याय, व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त एवं अध्यात्म विषयों के अनेक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया ।

बनारस से लौट कर आपने अपने ही ग्रामीण विद्यालय में अवैतनिक अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया, लेकिन साथ में, निरन्तर साहित्य साधना एवं साहित्य लेखन के कार्य में भी अग्रसर होते गये। आपकी लेखनी से एक से एक सुन्दर काव्यकृतियाँ जन्म लेती रही । आपकी तरुणाई विद्वता और आजीविकोपार्जन की क्षमता देखकर आपके विवाह के लिए अनेकों प्रस्ताव आये, सगे सम्बन्धियों ने भी आग्रह किया। लेकिन आपने वाराणसी में अध्ययन करते हुए ही संकल्प ले लिया था कि आजीवन ब्रह्मचारी रहकर माँ सरस्वती और जिनवाणी की सेवा में, अध्ययन-ऋध्यापन तथा साहित्य सृजन में ही अपने आपको समर्पित कर दिया । इस तरह जीवन के ५० वर्ष साहित्य साधना, लेखन, मनन एवं अध्ययन में व्यतीत कर पूर्ण पांडित्य प्राप्त कर लिया । इसी अवधि में आपने दयोदय, भद्रोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय आदि साहित्यिक रचनायें संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में प्रस्तुत की वर्तमान शताब्दी में संस्कृत भाषा के महाकाव्यों की रचना की परम्परा को जीवित रखने वाले मूर्धन्य विद्वानों में आपका नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । काशी के दिग्गज विद्वानों की प्रतिक्रिया थी "इसकाल में भी कालीदास और माघकवि की टक्कर लेने वाले विद्वान हैं, यह जानकर प्रसन्नता होती हैं ।" इस तरह पूर्ण उदासीनता के साथ, जिनवाणी माँ की अविरत सेवा में आपने गृहस्थाश्रम में ही जीवन के ५० वर्ष पूर्ण किये । जैन सिद्धान्त के हृदय कों आत्मसात करने हेतु आपने सिद्धान्त ग्रन्थों श्री धवल, महाधवल जयधवल महाबन्ध आदि ग्रन्थों का विधिवत् स्वाध्याय किया । "ज्ञान भारं क्रिया बिना" क्रिया के बिना ज्ञान भार- स्वरूप है - इस मंत्र को जीवन में उतारने हेतु आप त्याग मार्ग पर प्रवृत्त हुए ।

सर्वप्रथम ५२ वर्ष की आयु में सन् १९४७ में आपने अजमेर नगर में ही आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत अंगीकार किये । ५४ वर्ष की आयु में आपने पूर्णरूपेण गृहत्याग कर आत्मकल्याण हेतु जैन सिद्धान्त के गहन अध्ययन में लग गये। सन् १९५५ में ६० वर्ष की आयु में आपने आचार्य श्री वीर सागरजी महाराज से ही रेनवाल में क्षुल्लक दीक्षा लेकर ज्ञानभूषण के नाम से विख्यात हुए । सन् १९५९ में ६२ वर्ष की आयु में आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज से खानियाँ (जयपुर) में मुनि दीक्षा अंगीकार कर १०८ मुनि श्री ज्ञानसागरजी के नाम से विभूषित हुए ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और आपकों आचार्य श्री का प्रथम शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ । संघ में आपने उपाध्याय पद के कार्य को पूर्ण विद्वत्ता एवं सजगता के साथ सम्पन्न किया । रूढ़िवाद से कोसों दूर मुनि ज्ञानसागर जी ने मुनिपद की सरलता और गंभीरता को धारण कर मन, वचन और कायसे दिगम्बरत्व की साधना में लग गये। दिन रात आपका समय आगमानुकूल मुनिचर्या की साधना, ध्यान अध्ययन-अध्यापन एवं लेखन में व्यतीत होता रहा । फिर राजस्थान प्रान्त में ही विहार करने निकल गये । उस समय आपके साथ मात्र दो-चार त्यागी व्रती थे, विशेष रूप से ऐलक श्री सन्मतिसागर जी, क्षुल्लक श्री संभवसागर जी व सुख सागरजी तथा एक-दो ब्रह्मचारी थे । मुनि श्री उच्च कोटि के शास्त्र-ज्ञाता, विद्वान एवं तात्विक वक्ता थे । पंथ वाद से दूर रहते हुए आपने सदा जैन सिद्धान्तों को जीवन में उतारने की प्रेरणा दी और एक सद्गृहस्थ का जीवन जीने का आह्वान किया।

विहार करते हुए आप मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर तथा ब्यावर भी गये । ब्यावर में पंडित हीरा लालजी शास्त्री ने मुनि श्री को उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों एवं पुस्तकों को प्रकाशित कराने की बात कही, तब आपने कहा ''जैन वाँगमय की रचना करने का काम मेरा है, प्रकाशन आदि का कार्य आप लोगों का है'' ।

जब सन् १९६७ में आपका चातुर्मास मदनगंज किशनगढ़ में हो रहा था, तब जयपुर नगर के चूलगिरि क्षेत्र पर आचार्य देश भूषण जी महाराज का वर्षा योग चल रहा था । चूलगिरी का निर्माण कार्य भी आपकी देखरेख एवं संरक्षण में चल रहा था। उसी समय सदलगा ग्रामनिवासी, एक कन्नड़-भाषी नवयुवक आपके पास ज्ञानार्जन हेतु आया । आचार्य देशभूषण जी की आँखों ने शायद उस नवयुवक की भावना को पढ़ लिया था, सो उन्होंने उस नवयुवक विद्याधर को आशीर्वाद प्रदान कर ज्ञानार्जन हेतु मुनिवर ज्ञानसागर जी के पास भेज दिया । जब मुनि श्री ने नौजवान विद्याधर में ज्ञानार्जन की एक तीव्र कसक एवं ललक देखी तो मुनि श्री ने पूछ ही लिया कि अगर विद्यार्जन के पश्चात छोडकर चले जावोगे तो मुनि तो का परिश्रम व्यर्थ जायेगा। नौजवान विद्याधर ने तुरन्त ही दृढ़ता के साथ आजीवन सवारी का त्याग कर दिया । इस त्याग भावना से मुनि ज्ञान सागरजी अत्यधिक प्रभावित हुए और एक टक-टकी लगाकर उस नौजवान की मनोहारी, गौरवर्ण तथा मधुर मुस्कान के पीछे छिपे हुए दृढ़-संकल्प को देखते ही रह गये ।

शिक्षण प्रारम्भ हुआ । योग्य गुरू के योग्य शिष्य विद्याधर ने ज्ञानार्जन में कोई कसर नहीं छोड़ी । इसी बीच उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य्य व्रत को भी धारण कर लिया । ब्रह्मचारी विद्याधर की साधना प्रतिमा, तत्परता तथा ज्ञान के क्षयोपशम को देखकर गुरू ज्ञानसागर जी इतने प्रभावित हुए कि, उनकी कड़ी परीक्षा लेने के बाद, उन्हें मुनिपद ग्रहण करने की स्वीकृति दे दी । इस कार्य को सम्पन्न करने का सौभाग्य मिला अजमेर नगर को और सम्पूर्ण जैन समाज को । ३० जून १९६८ तदानुसार आषाढ़ शुक्ला पंचमी को ब्रह्मचारी विद्याधर की विशाल जन समुदाय के समक्ष जैनश्वरी दीक्षा प्रदान की गई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और विद्याधर, मुनि विद्यासागर के नाम से सुशोभित हुए। उस वर्ष का चातुर्मास अजमेर में ही सम्पन्न हुआ।

तत्पश्चात मुनि श्री ज्ञानसागर जी का संघ विहार करता हुआ नसीराबाद पहुँचा। यहाँ आपने ७ फरवरी १९६९ तदानुसार मगसरबदी दूज को श्री लक्ष्मी नारायण जी को मुनि दीक्षा प्रदान कर मुनि १०८ श्री विवेकसागर नाम दिया इसी पुनीत अवसर पर समस्त उपस्थित जैन समाज द्वारा आपको आचार्य पद से सुशोभित किया गया।

आचार्य ज्ञानसागर जी की हार्दिक अभिलाषा थी कि उनके शिष्य उनके सान्निध्य में अधिक से अधिक ज्ञार्नाजन कर ले। आचार्य श्री अपने ज्ञान के अथाह सागर को समाहित कर देना चाहते थे विद्या के सागर में और दोनों ही गुरू-शिष्य उतावले थे एक दूसरे में समाहित होकर ज्ञानामृत का निरन्तर पान करने और कराने में। आचार्य ज्ञानसागर जी सच्चे अर्थों में एक विद्वान-जौहरी और पारखी थे तथा बहुत दूर दृष्टि वाले थे। उनकी काया निरन्तर क्षीण होती जा रही थी। गुरू और शिष्य की जैन सिद्धान्त एवं वांगमय की आराधना, पठन, पाठन एवं तत्वचर्चा-परिचर्चा निरन्तर अबाधगति से चल रही थी।

तीन वर्ष पश्चात १९७२ में आपके संघ का चातुर्मास पुनः नसीराबाद में हुआ। अपने आचार्य गुरू की गहन अस्वस्थ्यता में उनके परम सुयोग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी ने पूर्ण निष्ठा और निस्पृह भाव से इतनी सेवा की कि शायद कोई लखपती बाप का बेटा भी इतनी निष्ठा और तत्परता के साथ अपने पिता श्री की सेवा कर पाता। कानों सुनी बात तो एक बार झूंठी हो सकती है लेकिन आँखो देखी बात को तो शत प्रतिशत सत्य मान कर ऐसी उत्कृष्ट गुरू भक्ति के प्रति नतमस्तक होना ही पड़ता है।

चातुर्मास समाप्ति की ओर था। आचार्य श्री ज्ञानसागर जी शारीरिक रुप से काफी अस्वस्थ्य एवं क्षीण हो चुके थे। साइटिका का दर्द कम होने का नाम ही नहीं ले रहा था दर्द की भयंकर पीड़ा के कारण आचार्य श्री चलने फिरने में असमर्थ होते जा रहे थे। १६-१७ मई १९७२ की बात है - आचार्य श्री ने अपने योग्यतम शिष्य मुनि विद्यासागर से कहा "विद्यासागर! मेरा अन्त समीप है। मेरी समाधि कैसे सधेगी ?

इसी बीच एक महत्वपूर्ण घटना नसीराबाद प्रवास के समय घटित हो चुकी थी। आचार्य श्री के देह-त्याग से करीब एक माह पूर्व ही दक्षिण प्रान्तीय मुनि श्री पार्श्वसागर जी आचार्य श्री की निर्विकल्प समाधि में सहायक होने हेतु नसीराबाद पधार चुके थे। वे कई दिनों से आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की सेवा सुश्रुषा एवं वैय्यावृत्ति कर अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते थे। नियति को कुछ औरं ही मंजूर था। १५ मई १९७२ को पार्श्वसागर महाराज को शारीरिक व्याधि उत्पन्न हुई और १६ मई को प्रातःकाल करीब ७ बजकर ४५ मिनिट पर अरहन्त, सिद्ध का स्मरण करते हुए वे इस नश्वर देह का त्याग कर स्वर्गारोहण हो गये। अतः अब यह प्रश्न आचार्य ज्ञानसागर जी के सामने उपस्थित हुआ कि समाधि हेतु आचार्य पद का परित्याग तथा किसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य आचार्य की सेवा में जाने का आगम में विधान है । आचार्य श्री के लिए इस भंयकर शारीरिक उत्पीडन की स्थिति में किसी अन्य आचार्य के पास जाकर समाधि लेना भी संभव नहीं था। आचार्य श्री ने अन्तत्तोगत्वा अपने शिष्य मुनि श्री विद्यासागर जी को कहा "मेरा शरीर आयु कर्म के उदय से रत्नत्रय- आराधना में शनैः शनैः कृश हो रहा है। अतः मैं यह उचित समझता हूँ कि शेष जीवन काल में आचार्य पद का परित्याग कर इस पद पर अपने प्रथम एवं योग्यतम शिष्य को पदासीन कर दूं। मेरा विश्वास है कि आप श्री जिनशासन सम्वर्धन एवं श्रमण संस्कृति का संरक्षण करते हुए इस पदकी गरिमा को बनाये रखोगे तथा संघ का कुशलता पूर्वक संचालन कर समस्त समाज को सही दिशा प्रदान करोगे।" जब मुनि श्री विद्यासागरजी ने इस महान भार को उठाने में, ज्ञान, अनुभव और उम्र से अपनी लघुता प्रकट की तो आचार्य ज्ञान सागरजी ने कहा "तुम मेरी समाधि साध दो, आचार्य पद स्वीकार करलो। फिर भी तुम्हें संकोच है तो गुरु दक्षिणा स्वरुप ही मेरे इस गुरुत्तर भार को धारण कर मेरी निर्विकल्प समाधि करादो- अन्य उपाय मेरे सामने नहीं है"

मुनि श्री विद्यासागर जी काफी विचलित हो गये, काफी मंथन किया, विचार-विमर्श किया और अन्त में निर्णय लिया कि गुरु दक्षिणा तो गुरु को हर हालत में देनी ही होगी । और इस तरह उन्होंने अपनी मौन स्वीकृति गुरु चरणों से समर्पित कर दी ।

अपनी विशेष आभा के साथ २२.नवम्बर १९७२ तदानुसार मगसर बदी दूज का सूर्योदय हुआ। आज जिन शासन के अनुयायिओं को साक्षात् एक अनुपम एवं अद्भुत दृश्य देखने को मिला । कल तक जो श्री ज्ञान सागरजी महाराज संघ के गुरु थे, आचार्य थे, सर्वोपरि थे, आज वे ही साधु एवं मानव धर्म की पराकाष्ठा का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करने जा रहे थे. यह एक विस्मयकारी एवं रोमांचक दृश्य था, मुनि की संज्वलन कषाय की मन्दता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण था। आगमानुसार आचार्य श्री ज्ञानसागरजी ने आचार्य पदत्याग की घोषणा की तथा अपने सर्वोत्तम योग्य शिष्य मुनि श्री विद्यासागरजी को समाज के समक्ष अपना गुरुत्तर भार एवं आचार्य पद देने की स्वीकृति मांगकर, उन्हें आचार्य पद से विभूषित किया । जिस बडे पट्टे पर आज तक आचार्य श्री ज्ञानसागर जी आसीन होते थे उससे वे नीचे उतर आये और मुनि श्री विद्यासागरजी को उस आसन पर पदासीन किया। जन-समुदाय की आँखे सुखानन्द के आँसुओं से तरल हो गई । जय घोष से आकाश और मंदिर का प्रागंण गूंज उठा। आचार्य श्री विद्यासागर जी ने अपने गुरु के आदेश का पालन करते हुये पूज्य गुरुवर की निर्विकल्प समाधि के लिए आगमानुसार व्यवस्था की। गुरु ज्ञानसागरजी महाराज भी परम शान्त भाव से अपने शरीर के प्रति निर्ममत्व होकर रस त्याग की ओर अग्रसर होते गये।

आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपने गुरु की संलेखना पूर्वक समाधि कराने में कोई कसर नहीं छोडी । रात दिन जागकर एवं समयानुकूल सम्बोधन करते हुए आचार्य श्री ने मुनिवर की शांतिपूर्वक समाधि कराई । अन्त में समस्त आहार एवं जल का त्यागोपरान्त मिती जेष्ठ कृष्णा अमावस्या वि. स. २०३० तदनानुसार शुक्रवार दिनांक १ जून १९७३ को दिन में १० बजकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५० मिनिट पर गुरु ज्ञानसागर जी इस नश्वर शरीर का त्याग कर आत्मलीन हो गये । और दे गये समस्त समाज को एक ऐसा सन्देश कि अगर सुख,शांति और निर्विकल्प समाधि चाहते हो तो कषायों का शमन कर रत्नत्रय मार्ग पर आढू हो जाओ, तभी कल्याण संभव है ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि आचार्य ज्ञानसागरजी का विशाल कृत्तित्व और व्यक्तित्व इस भारत भूमि के लिए सरस्वती के वरद पुत्रता की उपलब्धि कराती है। इनके इस महान साहित्य सृजनता से अनेकानेक ज्ञान पिपासुओं ने इनके महाकाव्यों परशोध कर डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर अपने आपको गौरवान्वित किया है। आचार्य श्री के साहित्य की सुरभि वर्तमान में सारे भारत में इस तरह फैल कर विद्वानों को आकर्षित करने लगी है कि समस्त भारतवर्षीय जैन अजैन विद्वानों का ध्यान उनके महाकाव्यों की ओर गया है। परिणामतः आचार्य श्री ज्ञानसागरजी की ही संघ परम्परा के प्रथम आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवचन प्रवक्ता, मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज के सान्निध्य में प्रथम बार "आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के कृत्तित्व एवं व्यक्तित्व पर ९-१०-११ जून १९९४ को महान अतिशय एवं चमत्कारिक क्षेत्र, सांगानेर (जयपुर) में संगोष्ठी आयोजित करके आचार्य ज्ञानसागरजी के कृत्तित्व को सरस्वती की महानतम साधना के रूप में अंकित किया था, उसे अखिल भारतवर्षीय विद्वत्त समाज के समक्ष उजागर कर विद्वानों ने भारतवर्ष के सरस्वती पुत्र का अभिनन्दन किया है। इस संगोष्ठी में आचार्य श्री के साहित्य-मंथन से जो नवनीत प्राप्त हुवा, उस नवनीत की स्निगधता से सम्पूर्ण विद्वत्त मण्डल इतना आनन्दित हुआ कि पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी के सामने अपनी अतरंग भावना व्यक्त की, कि- पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज के एक एक महाकाव्य पर एक एक संगोष्ठी होना चाहिए, क्योंकि एक एक काव्य में इतने रहस्मय विषय भरे हुए हैं कि उनके समस्त साहित्य पर एक संगोष्ठी करके भी उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता । विद्वानों की यह भावना तथा साथ में पूज्य मुनि श्री सुधासागर जी महाराज के दिल में पहले से ही गुरु नाम गुरु के प्रति,स्वभावतः कृतित्व और व्यक्तित्व के प्रति प्रभावना बैठी हुई थी, परिणामस्वरुप सहर्ष ही विद्वानों और मुनि श्री के बीच परामर्श एवं विचार विमर्श हुआ और यह निर्णय हुआ कि आचार्य श्री ज्ञानसागरजी के पृथक पृथक महाकाव्य पर पृथक पृथक रुप से अखिल भारतवर्षीय संगोष्ठी आयोजित की जावे । उसी समय विद्वानों ने मुनि श्री सुधासागर जी के सान्निध्य मे बैठकर यह भी निर्णय लिया कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का समस्त साहित्य पुनः प्रकाशित कराकर विद्वानों को, पुस्तकालयों और विभिन्न स्थानों के मंदिरों को उपलब्ध कराया जावे।

साथ में यह भी निर्णय लिया गया कि द्वितीय संगोष्ठी में वीरोदय महाकाव्य को विषय बनाया जावे । इस महाकाव्य में से लगभग ५० विषय पृथक पृथक रुप से छाँटे गये, जो पृथक पृथक मूर्धन्य विद्वानों के लिए आलेखित करने हेतु प्रेपित किये गये है। आशा है कि निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मुनि श्री के ही सान्निध्य में द्वितीय अखिल भारतवर्षीय विद्वत्त संगोष्ठी वीरोदय महाकाव्य पर माह अक्टूबर ९४ मे अजमेर में सम्पन्न होने जा रही है जिसमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूज्य मुनि श्री का संरक्षण, नेतृत्व एवं मार्गदर्शन सभी विद्वानों को निश्चित रुप से मिलेगा ।

हमारे अजमेर समाज का भी परम सौभाग्य है कि यह नगर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज की साधना स्थली एवं उनके परम सुयोग्य शिष्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की दीक्षा स्थली रही है । अजमेर के सातिशय पुण्य के उदय के कारण हमारे आराध्य पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने अपने परम सुयोग्य शिष्य, प्रखर प्रवक्ता, तीर्थोद्धारक, युवा मनिषी, पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री गंभीर सागरजी एवं पूज्य क्षुल्लक १०५ श्री धैर्य सागर जी महाराज को, हम लोगों की भक्ति भावना एवं उत्साह को देखते हुए इस संघ को अजमेर चातुर्मास करने की आज्ञा प्रदान कर हम सबको उपकृत किया है ।

परम पूज्य मुनिराज श्री सुधासागरजी महाराज का प्रवास अजमेर समाज के लिए एक वरदान सिद्ध हो रहा है । आजतक के पिछले तीस वर्षों के इतिहास में धर्मप्रेमी सज्जनों व महिलाओं का इतना जमघट, इतना समुदाय देखने को नहीं मिला जो एक मुनि श्री के प्रवचनों को सुनने के लिए समय से पूर्व ही आकर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं । सोनी जी की नसियाँ मे प्रवचन सुनने वाले जैन-अजैन समुदाय की इतनी भीड़ आती हैं कि तीन-तीन चार-चार स्थानों पर "क्लोज-सर्किट टी.वी." लगाने पड़ रहे हैं। श्रावक संस्कार शिविर जो पर्यूषण पर्व में आयोजित होने जा रहा है। अपने आपकी एक एतिहासिक विशिष्ठता है । अजमेर समाज के लिए यह प्रथम सौभाग्यशाली एवं सुनहरा अवसर होगा जब यहाँ के बाल-आबाल अपने आपको आगमानुसार संस्कारित करेंगे ।

महाराज श्री के व्यक्तित्व का एवं प्रभावपूर्ण उद्‌बोधन का इतना प्रभाव पड़ रहा है कि दान दातार और धर्मप्रेमी निष्ठावान व्यक्ति आगे बढ़कर महाराज श्री के सानिध्य में होने वाले कार्यक्रमों को मूर्त रुप देना चाहते हैं । अक्टूबर माह के मध्य अखिल भारतवर्षीय विद्वत-संगोष्ठी का आयोजन भी एक विशिष्ठ कार्यक्रम है जिसमें पूज्य आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के द्वारा रचित वीरोदय महाकाव्य के विभिन्न विषयों पर ख्याति प्राप्त विद्वान अपने आलेख का वाचन करेंगे। काश यदि पूज्य मुनिवर सुधासागरजी महाराज का संसघ यहाँ अजमेर में पर्दापण न हुआ होता तो हमारा दुर्भाग्य किस सीमा तक होता, विचारणीय है ।

पूज्य मुनिश्री के प्रवचनों का हमारे दिल और दिमाग पर इतना प्रभाव हुआ कि सम्पूर्ण दिगम्बर समाज अपने वर्ग विशेष के भेदभावों को भुलाकर जैन शासन के एक झंडे के नीचे आ गये । यहीं नहीं हमारी दिगम्बर जैन समिति ने समाज की ओर से पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के समस्त साहित्य का पुनः प्रकाशन कराने का संकल्प मुनिश्री के सामने व्यक्त किया । मुनि श्री का आशीर्वाद मिलते ही समाज के दानवीर लोग एक एक पुस्तक को व्यक्तिगत धनराशि से प्रकाशित कराने के लिए आगे आये ताकि वे अपने राजस्थान में ही जन्मे सरस्वती-पुत्र एवं अपने परमेष्ठी के प्रति पूजांजली व्यक्त कर अपने जीवन में सातिशय पुण्य प्राप्त कर तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देव, शास्त्र, गुरु के प्रति अपनी आस्था को बलवती कर अपना अपना आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सके।

इस प्रकार आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज के साहित्य की आपूर्ति की समस्या की पूर्ती इस चातुर्मास में अजमेर समाज ने सम्पन्न की है उसके पीछे एक ही भावना है कि अखिल भारतवर्षीय जन मानस एवं विद्वत जन इस साहित्य का अध्ययन, अध्यापन कर सृष्टी की तात्विक गवेषणा एवं साहित्यक छटा से अपने जीवन को सुरभित करते हुए कृत कृत्य कर सकेंगे।

इसी चातुर्मास के मध्य अनेकानेक सामाजिक एवं धार्मिक उत्सव भी आयेगें जिस पर समाज को पूज्य मुनि श्री से सारगर्भित प्रवचन सुनने का मौका मिलेगा । आशा है इस वर्ष का भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव एवं पिच्छिका परिवर्तन कार्यक्रम अपने आप में अनूठा होगा । जो शायद पूर्व की कितनी ही परम्पराओं से हटकर होगा ।

अन्त में श्रमण संस्कृति के महान साधक महान तपस्वी, ज्ञानमूर्ति, चारित्र विभूषण, बाल ब्रह्मचारी परम पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पुनीत चरणों में तथा उनके परम सुयोग्यतम शिष्य चारित्र चक्रवर्ती पूज्य आचार्य श्री १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज और इसी कड़ी में पूज्य मुनि श्री १०८ श्री सुधासागर जी महाराज, क्षुल्लकगण श्री गम्भीर सागर जी एवं श्री धैर्य सागरजी महाराज के पुनीत चरणों में नत मस्तक होता हुआ शत्-शत् वंदन, शत्-शत् अभिनंदन करता हुआ अपनी विनीत विनयांजली समर्पित करता हूँ ।

इन उपरोक्त भावनाओं के साथ प्राणी मात्र के लिए तत्वगवेषणा हेतु यह ग्रन्थ समाज के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं । यह **विवेकोदय्** पुस्तक क्षु. १०५ श्री ज्ञानभूषण जी महाराज ने लिखी थी यही क्षु. बाद में आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के नाम से जगत विख्यात हुये ।

इस ग्रन्थ का पूर्व संस्करण यंग मैन एण्ड क. हिसार (पंजाब) से प्रकाशित हुआ था । उसी. प्रकाशन को पुनः यथावत प्रकाशित करके इस ग्रन्थ की आपूर्ती की पूर्ती की जा रही है । अतः पूर्व प्रकाशक का दिगम्बर जैन समाज, अजमेर आभार व्यक्त करती है । एवं इस द्वितीय संस्करण में दातारों का एवं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष से जिन महानुभावों ने सहयोग दिया है, उनका भी आभार मानते हैं।

इस ग्रन्थ की महिमा प्रथम संस्करण से प्रकाशकीय एवं प्रस्तावना में अतिरिक्त है । जो इस प्रकाशन में भी यथावत संलग्न हैं ।

दिनाङ्क : 13-14-15 अक्टूबर 1994
वीरोदय महाकाव्य पर अ. भा. विद्वत संगोष्ठी

विनीत

श्री दिगम्बर जैन समिति
एवं सकल दिगम्बर जैन समाज अजमेर (राज)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम पूज्य
आचार्य 108 श्री ज्ञानसागरजी महाराज
सांख्यिकी – परिचय

प्रस्तुति – कमल कुमार जैन

पारिवारिक परिचय :
जन्म स्थान – राणोली ग्राम (जिला सीकर) राजस्थान
जन्म काल – सन् १८९१ पिता का नाम – श्री चतुर्भुज जी;
माता का नाम – श्रीमती घृतवरी देवी गोत्र – छाबड़ा (खंडेलवाल जैन)
बाल्यकाल का नाम – भूरामल जी
भ्रात परिचय – पाँच भाई (छगनलाल/भूरामल/गंगाप्रसाद/गौरीलाल/एवं देवीदत्त)
पिता की मृत्यु – सन १९०२ में
शिक्षा – प्रारम्भिक शिक्षा गांव के विद्यालय में एवं शास्त्रि स्तर की शिक्षा स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस (उ. प्र.) से प्राप्त की ।

साहित्यिक परिचय :
संस्कृत भाषा में
- ❋ दयोदय / जयोदय / वीरोदय / (महाकाव्य)
- ❋ सुदर्शनोदय / भद्रोदय / मुनि मनोरंजनाशीति – (चरित्र काव्य)
- ❋ सम्यकत्व सार शतक (जैन सिद्धान्त)
- ❋ प्रवचन सार प्रतिरुपक (धर्म शास्त्र)

हिन्दी भाषा में
- ❋ ऋषभावतार / भाग्योदय / विवेकोदय / गुण सुन्दर वृत्तान्त (चरित्र काव्य)
- ❋ कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन / सचित्तविवेचन / तत्वार्थसूत्र टीका / मानव धर्म (धर्मशास्त्र)
- ❋ देवागम स्तोत्र / नियमसार / अष्टपाहुड़ (पद्यानुवाद)
- ❋ स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म और जैन विवाह विधि

चारित्र पथ परिचय :
- ❋ सन १९४७ (वि. सं. २००४) में व्रतरुप से ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण की।
- ❋ सन १९५५ (वि. सं. २०१२) में क्षुल्लक दीक्षा धारण की ।
- ❋ सन १९५७ (वि. सं. २०१४) में ऐलक दीक्षा धारण की ।
- ❋ सन १९५९ (वि. सं. २०१६) में आचार्य १०८ श्री शिवसागर महाराज से उनके प्रथम शिष्य के रुप में मुनि दीक्षा धारण की । स्थान खानिया (जयपुर) राज। आपका नाम मुनि ज्ञानसागर रखा गया ।
- ❋ ३० जून सन् १९६८ (आषाड़ शुक्ला ५ सं. २०२५) को ब्रह्मचारी विद्याधर जी को मुनि पद की दीक्षा दी जो वर्तमान में आचार्य श्रेष्ठ विद्यासागर जो कि रुप में विराजित है ।
- ❋ ७ फरवरी सन् १९६९ (फागुन वदी ५ सं. २०२५) को नसीराबाद (राजस्थान) में जैन समाज ने आपको आचार्य पद से अलंकृत किया एवं इस तिथि को विवेकसागर जी को मुनिपद की दीक्षा दी ।
- ❋ संवत् २०२६ को ब्रह्मचारी जमनालाल श्री गंगवाल खाचरियावास (जिला-सीकर) रा. को क्षुल्लक दीक्षा दी और क्षुल्लक विनयसागर नाम रखा। बाद में क्षुल्लक विनयसागर जी ने मुनिश्री विवेकसागर जी से मुनि दीक्षा ली और मुनि विनयसागर कहलाये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

❋ संवत् २०२६ मह्यं ब्रह्म. पन्नालाल जी को केसरगंज अजमेर (राज.) में मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी ।

❋ संवत् २०२६ में बनवारी लाल जी मुनि दीक्षा पूर्वक समाधि दी।

❋ २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद में ब्रह्म. स्वरुपानन्दजी को क्षुल्लक दीक्षा दी, जो कि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के समाधिस्थ पश्चात् सन् १९७६ (कुण्डलपुर) तक आचार्य विद्यासागर महाराज के संघ में रहे ।

❋ २० अक्टूबर १९७२ को नसीराबाद जैन समाज ने आपको चारित्र चक्रवर्ती पद से अलंकृत किया ।

❋ क्षुल्लक आदिसागर जी, क्षुल्लक शीतलसागर जी (आचार्य महावीर कीर्ति जी के शिष्य भी आपके साथ रहते थे ।

❋ पांडित्य पूर्ण, जिन आगम के अतिश्रेष्ठ ज्ञाता आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने अपने जीवन काल में अनेकों श्रमण/आर्यिकाएँ/ऐलक/क्षुल्लक/ब्रह्मचारी/श्रावकों को जैन आगम के दर्शन का ज्ञान दिया।
आचार्य श्री वीर सागर जी/आचार्य श्री शिवसागर जी/आचार्य श्री धर्मसागर जी/आचार्य श्री अजित सागर जी / एवं वर्तमान श्रेष्ठ आचार्य विद्यासागर जी इसके अनुपम उदाहरण है ।

आचार्य श्री के चातुर्मास परिचय :

❋ संवत् २०१६ - अजमेर सं. २०१७ - लाडनू; सं. २०१८ - सीकर (तीनों चातुर्मास आचार्य शिवसागर जी के साथ किये)

❋ संवत २०१९ - सीकर; २०२० - हिंगोनिया (फुलेरा); सं. २०२१- मदनगंज - किशनगढ़ सं. २०२२ - अजमेर; सं. २०२३ - अजमेर, सं. २०२४ - मदनगंज-किशनगढ़ सं. २०२५ - अजमेर (सोनी जी की नसियाँ); सं. २०२६ - अजमेर (केसरगंज); सं. २०२७- किशनगढ़ रैनवाल; सं. २०२८ - मदनगंज-किशनगढ़ सं. २०२९- नसीराबाद ।

विहार स्थल परिचय :

❋ सं. २०१२ से सं. २०१६ तक क्षुल्लक/ ऐलक अवस्था में - रोहतक/हासी/हिसार/गुडगाँवा/रिवाड़ी/एवं जयपुर ।

❋ सं. २०१६ से सं. २०२९ तक मुनि/आचार्य अवस्था में - अजमेर/लाडनू/सीकर/हिंगोनिया/फुलेरा/मदनगंज-किशनगढ़/नसीराबाद/बीर/रुपनगढ़/मरवा/छोटा नरेना/साली/साकून/हरसोली/छप्या/दूदू/मोजमाबाद/चोरु/झाग/सांवरदा/खंडेला/हयोढ़ी/कोठी/मंडा-भीमसींह/भींडा/किशनगढ़-रैनवाल/कांस/श्यामगढ़/मारोठ/सुरेरा/दांता/कुली/खाचरियाबाद एवं नसीराबाद ।

अंतिम परिचय

❋ आचार्य पद त्याग एवं संल्लेखना व्रत ग्रहण :
मंगसर वदी २ सं. २०२९ (२२ नवम्बर सन् १९७२)

❋ समाधिस्थ: ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या सं. २०३०. (शुक्रवार १ जून सन् १९७३)

❋ समाधिस्थ समय: पूर्वान्ह १० बजकर ५० मिनिट ।

❋ सल्लेखना अवधि :
मास १३ दिन (मिति अनुसार) ६ मास १० दिन (दिनांक अनुसार)

दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिश्रेष्ठ अनुयायी के चरणों में श्रद्धेव नमन्। शत् शत् नमन ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

... वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं. 4527
दिनांक..................
नरिया (का. हि. वि. वि.) वाराणसी

ॐ

卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

卐 अथ विवेकोदय 卐

समयसार

अनुपम अविकल अचल दशा को सहज रूप में प्राप्त किया
रागादिक विकार भावों को जिन ने जड़ से मिटा दिया।
ऐसे सभी सिद्ध जीवों के चरणों में मैं शीश धरूं
समयसार जी का हिन्दी छन्दों में अब सत्कार करुं ॥१॥

अर्थात् – परम शुद्ध चैतन्य को लिये हुए होने से जिस की इस दुनियांदारी में कोई भी दूसरी शान न हो अतः अनुपम और पूर्णिमा के चन्द्रमा की भांति पूर्णता को लिये हुए हो तथा सुमेरु की तरह निश्चल अटल पने को लिए हुए हो ऐसी तीन विशेषणों से युक्त अवस्था को जिन्होंने अपने सहज स्वभाव के द्वारा रागादिक अपने विकारी भावों को मिटा कर, अपने आप में प्राप्त कर लिया ऐसे श्री सिद्ध भगवान को नमस्कार कर के मैं स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य कृत श्री समयसार जी को हिन्दी छन्दोवद्ध करते हुए सरल हिन्दी लिख रहा हूं जिस में सब से पहले समयसार का अर्थ बताया जाता है –

समय नाम तो आत्म तत्व को सार भलेपन को जानों
कारण कार्य रूप में उस को दोय तरह का पहिचानों ।
जो छद्मस्थ वीतरागी हो कारण समय सार सोही ।
क्यों कि सर्वदर्शीपन को पाकर के बवे कार्य वोही ॥२॥

अर्थात् – समयसार शब्द समय और सार इन दो शब्दों का समासान्त शब्द है जिसका मतलब होता है समय का सार। यहां पर समय नाम तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** ************************
आत्मा का और सार भलेपन का नाम है जहां दूसरा कोई भी प्रकार का सम्पर्क न हो। वह समयसार कारण और कार्य के रुप में दो तरह का माना गया है जो आत्मा पूर्ण वीतराग होते हुये भी छद्मस्थ हो अल्पज्ञ हो जिसका कि मोहनीय कर्म निःशेष हो जाने पर भी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का परिपूर्ण नाश न होने के कारण अभी सर्वज्ञ न हो पाया हो परन्तु सर्वज्ञता के सम्मुख हो वह छद्मस्थ वीतराग अर्थात् बारहवें एवं ग्यारहवें गुणस्थान वर्ती जीव कारण समयसार कहलाता है और इससे आगे जिसने सर्वज्ञपना प्राप्त कर लिया है वह सयोगकेवली वगैरह जीव कार्य समयसार होता है। हां बारहवें गुणस्थान वाला जीव वास्तविक कारण समयसार है क्योंकि वह अपने उत्तर काल में नियम से कार्यसार बनता है किन्तु ग्यारहवे गुणस्थान में होने वाला जीव असमर्थ कारण समयसार होता है जो कि कार्य रुप में न परिणत होकर प्रत्युत भ्रष्ट हो जाया करता है।

जो कि समयते सबको जाने वही समय यों चेतन का।
नाम हुवा फिर निज पर पन से दो प्रकारता का ठनका ॥
सम्यग्दर्शन बोध व्रतमय वही समय निज होता है।
और दूसरा वह कि भवोदधि मध्य खा रहा गोता है ॥३॥

समयशब्द सं उपसर्ग पूर्वक अय धातु से बना है जिस धातु का अर्थ चलना भी है और जानना भी। उसमें से जानना अर्थ लेकर सं अर्थात् सभी चीजों को जो अयते अर्थात् जानता हो हर पदार्थ के जानने की ताकत रखता हो उसे समय कहते हैं इस प्रकार समय नाम जीव का होता है। जीव दो तरह का होता है एक तो वह जो कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप अपने गुणों मय परिणत हो रहा है उसे तो स्वसमय समझना चाहिये। दूसरा वह जो कि पौद्गलिक कर्मों के साथ एकमेक होकर परिणमन करता है उसे पर समय कहा जाता है। किन्तु -

समयते स्वगुण पर्यायों को भोगे वही समय होता ।
सर्वमान्य यह बात मनोहर इसका कौन वृथा खोता ।
तो फिर बन्धावस्था कैसी जो संसार नाम पावे।
यही तकर्णा विज्ञजनों के मन को विस्मय उपजावे ॥४॥

अच् धातु का दूसरा अर्थ जो गति या प्राप्त होना है उसे लेकर के समयते अर्थात् जो अपने ही गुण और पर्यायों को अच्छी तरह से भोगे अपने ही रूप में परिणमन करे जो और पदार्थ रूप कभी न परिणवे उसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ***********************

समय कहते हैं। इस तरह यह जीव पुद्गल धर्म अधर्म वगैरह सभी द्रव्यों का नाम हो जाता है क्योंकि वे सभी अपने अपने गुण पर्यायों की सत्ता को लिये हुये स्वतन्त्रता से विद्यमान हैं अगर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य रूप में परिणमन करने वाला मान लिया जावे तो फिर सभी द्रव्य भिन्न भिन्न न मान कर एक ही द्रव्य मान लेना चाहिये किन्तु ऐसा न मान कर श्री जिन शासन में सब द्रव्यों को अपने अपने रुप में स्वतन्त्र बतलाया गया है। ऐसी हालत में जीव के स्वसमय और परसमय इस प्रकार जो दो भेद किये वे नहीं बनते हैं। मतलब कि जीव और पुद्गल का परस्पर सम्बन्ध बतलाना ठीक नहीं जचता और जब सम्बन्ध नहीं तो संसार कैसा और फिर उससे छूटने रुप मुक्ति भी कैसी कि जिसके लिये यह सब प्रयास किया जावे यह गाथा नं. ३ का भाव है।

किन्तु सुनी जाती परिचय मे आती अनुभव की जाती ।
हुई बन्ध की बात स्वयं लोगों के दिल को है भाती ॥
प्रत्युत सहजा–नन्द दशा ही दुर्लभ बड़ी दीख पाती ।
जिसकी ओर झुकाने पर भी बुद्धि न लोगों की जाती ॥५॥

इस पर आचार्य महाराज कहते हैं कि भाई बन्ध के बारे की जिस बात को हम सभी लोग जबकि अखण्ड रूप से सुनते चले आ रहे हैं एवं जो हरेक के परिचय में भी आ रही है। जिसका कि हम सभी लोग स्पष्ट रूप से अनुभव भी कर रहे हैं फिर हाथ कंगण को आरसी क्या ? उसे झूठी कैसे कहा जा सकता है वह है सो तो है ही । मतलब यह कि जीवादिक छह द्रव्यों में से शेष के चार द्रव्यों को छोड़ कर जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में एक वैभाविक शक्ति है जो कि एक दूसरे के संयोग विशेष को लेकर अनादि काल से अपना कार्य करते हुए चली आ रही है। ताकि पुद्गल से पुद्गल का संयोग सम्बन्ध विशेष होकर तो स्कन्ध रूप परिणमन करते हुए स्थूल सूक्ष्मादि अनेक तरह से परिणाम होता है। जीव और पुद्गल का परस्पर सम्बन्ध विशेष में उस वैभविक शक्ति के द्वारा पुद्गल का तो ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन और जीव का रागद्वेषादि रूप परिणमन हो रहा है जो कि परस्पर को निमित्त लेकर हवा के द्वारा अग्नि का प्रज्वलित हो जाना और अग्निद्वारा हवा का गर्म हो जाना जैसा उनका खुद का ही संयोगज परिणमन है उसी का नाम संसार है जिसकी कि वजह से जीव का सहज परिणमन लुप्त हो रहा है अतः अस्मदादि/सर्व साधारण लोगों की दृष्टि में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** **********************
तो प्रत्युत वही झूठा सा प्रतीत हो रहा है। अर्थात् जो (असंयोगज एकाकी परिणमन की) बात है ही नहीं वह कैसे हो सकती है कभी नहीं हो सकती. ऐसी एक तरफा प्रतीत हो रही है।

इसीलिये उसके बारे में बार बार गुरु जी उपदेश
देते हैं उसको सुनंकर के जो कुछ समझा उसका लेश ॥
मैने सो तुमसे कहता हूं पाठक सुनों ध्यान देकर।
ठीक ठीक हो उसको लेना भूल चूक संशोधन कर ॥६॥

इसीलिये जिन्हों ने अपने पुरुषार्थ द्वारा उस अदृष्ट पूर्व एकत्व विभक्त रूप शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त कर लिया है ऐसे अरहन्तादि गुरु महाराज बार बार उसी (शुद्धात्म स्वरूप) का उपदेश करते रहते हैं तथा कर गये हैं! उन गुरुदेव के उपदेश को मैंने सुना है और जैसा कुछ मतलब उसका मैंने समझा है उसी को मैं इस निबन्ध के द्वारा आप लोगों को सुनाता हूँ सो हे सज्जनों उसे सांवधानता पूर्वक सुनना और उसमें कहीं पर अगर मैं भूल रहा हूं तो उसे सुधारते हुए जो कुछ ठीक ठीक अंश हो उसे ग्रहण करना । अर्थात आचार्य महाराज कहते हैं कि जिस आत्मतत्व के बारे में अनादिकाल से आज तक हम भूले हुए बैठे थे उसको गुरुदेव की कृपा से आज समझ पाया है फिर भी हमारी उसमें भूल रह जाना कोई बड़ी बात नहीं है। यहां पर श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने उपादान और निमित्त दोनों की सर्थकता प्रगट कर दिखलाई है वे कहते हैं कि किसी भी तत्व को समझ लेना हम सब चेतना युक्तों का कार्य है चेतना रहित जड़ पदार्थ उसे नहीं समझ सकता उसमें उसे समझने की उपादानता नही है हम चेतन हैं अपनी योग्यतानुसार उसे समझ सकते हैं पर फिर भी उसके लिये हमें गुरूपदेश की जरुरत होती है जिसके कि बिना हम वहां तक नहीं पहुँच पाते । और इसीलिये हमारे करणानुयोग के ग्रन्थों में सम्यक्त्वोत्पत्ति के लिये पाँचों ही लब्धियों का होना आवश्यक कहा गया है ।

प्रश्न : देशनादिक चार लब्धियां तो मिथ्या दृष्टि अभव्य तक के भी हो लेती हैं परन्तु करण लब्धि जो उपादान रूप है वह जब तक नहीं होती तब तक सम्यक्त्व नहीं हो पाता इसलिये उपादान ही कार्य कर रहा ।

उत्तर : भैया जी तुम कहते हो सो ठीक है परन्तु इसका मतलब यह तो है कि चार लब्धियां हो जाने पर भी जब तक करण लब्धि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

`*********** ******************************`

नहीं होती तब तक सम्यक्त्व नहीं होता प्रत्युत इसके ऐसा तो नहीं है कि एक करण लब्धि होनी चाहिए फिर शेष चार लब्धियाँ न होने पर भी संम्यक्त्व हो जाता है, हां चार लब्धियां न होने पर भी सम्यक्त्व हो जाता है, हां चार लब्धियां होकर अन्त में करण लब्धि हो जाने पर सम्यक्त्व होता है मतलब उपादान और निमित्त दोनों होने पर कार्य होता है। उपादान खुद कार्य रूप में परिणत होता है। और निमित्त कार्य रूप परिणत न होकर उपादान को कार्य रूप होने में सहायक होता है। उसके बिना कार्य नहीं होता ।

प्रश्न : हमें तो ऐसा बतलाया है कि जहाँ उपादान होता है वहां पर निमित्त भी जरुर उपस्थित होता है किन्तु वह कुछ करता नहीं है।

उत्तर : भैया जी तुम्हारे इस कहने का क्या मतलब हुआ क्योंकि होती तो दुनियां की सभी चीजें हैं फिर अमुक कार्य का अमुक निमित्त है ऐसा क्यों ?

प्रश्न : जिस चीज पर उस कार्य का आरोप आता है उसको उसका निमित्त कहा जाता है।

उत्तर : इस तुम्हारे आरोप कहने का भी क्या अर्थ समझना चाहिये क्या पागल की भांति यद्दच्छावृत्ति ? अगर हां तब तो फिर लोहशलाका को खैंच निकालने के लिये चुम्बक को लिया जाता है वैसे ही कोई आदमी हथोड़े को भी लोह सूची खैंच निकालने वाला कह सकता है परन्तु ऐसा करने वाले को अज्ञ कहा जाकर लोह सूची के आकर्ष के लिये चुम्बक ही लिया जाया करता है क्योंकि चुम्बक में लोह सूची को खैंचने की योग्यता है और सूची में उससे खिचने की जैसा कि समयसार जी के गाथा नां ३७३ से लेकर ३८२ गाथा तक की सामूहिक टीका में अमृत चन्द्राचार्य तथा जय सेनाचार्य भी लिखते हैं किञ्च जब छत्ता तानते ही सूर्य की घाम में छाया हो जाती है और उसे वापिस बन्द करने पर छाया मिट कर घाम हो लेता है ऐसा अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है फिर कौन सयाना आदमी इस बात को मान सकता है कि छाते से छाया नहीं होती । अस्तु। गुरु प्रसाद से आचार्य महाराज ने जो कुछ शुद्धात्मा का स्वरूप जान पाया है उसे ही नीचे बताते हैं .-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

जो एकत्व विभक्त नाम का धारक हो वह लाशानी ।
भले बुरे पन से अतीत कृतकृत्य निर्विकल्पज्ञानी ।।
कर्तव्य च्युत तो संसारी किन्तु वही कर्तव्य करे ।
जब वह अपने मन में अपनी भूल हुई पर ध्यान धरे ।।७।।

कर्तव्यच्युत होते हुए प्रमादी होना तो संसारी आत्मा का स्वरूप है इसको तो सभी समझते हैं परन्तु प्रमाद रहित होकर कर्तव्य परायण बनना भी संसारापन्न अवस्था में ही होता है। मतलब कि जो संसारी है अर्थात् भूल रहा है जब उसका ख्याल अपनी भूल की तरफ जाता है, सोचता है कि मैं भूल रहा हूं तो वही अपनी उस भूल को सुधारने के लिये तत्पर होता है बुरे से भला कहलाने का पात्र बनता है परन्तु इन दोनों अवस्थाओं से पार होकर कृतकृत्य होता हुआ विकल्पातीत शुद्ध ज्ञायक भाव को प्राप्त हो रहा है वही शुद्धात्मा है उसी का नाम एकत्व विभक्त भी है क्योंकि वह अपने आपके द्वारा और सब पदार्थों से भिन्न होकर अपनी निराली ही शान में होता है ।

जहां विवेचन वही जीव के दर्शन वोधाचरण कहे,
किन्तु आप ही आप वहां, फिर होकर अनुभव मग्न रहे ।
दाहक[१] पाचक और प्रकाशक अग्नि एक ही होती है,
जिसे शिंष्य की मृदुल मनीषा भिन्न-भिन्न कर जोती है ।।७।।

१ आत्मा का सम्यक्त्व गुण तो पाचक रूप है उसके होने पर आत्मा परिपक्व रूप में आ जाता है ! ज्ञान प्रकाशक है वह सब को प्रगट करता है और चारित्र दाहक रूप है वह इतर सब कर्मों को जला कर अर्थात् दूर हटा कर आत्मा को निर्मल बनाने वाला है ।

प्रश्न : आपने यह क्या कहा कि वही आत्मा शुद्ध है ? हम लोग तो समझते हैं कि – आत्मत्व के रुप में तो अस्मदादि सभी की आत्मा शुद्ध है। उसमें अशुद्धता जो आई हुई है वह पर संयोग से है जोकि उसकी वर्तमान अवस्था मात्र में है फिर भी सम्पूर्ण आत्मा विकार रुप नहीं है। मूल ज्ञायकपन से निरपेक्ष अविकारी शुद्ध ही है जैसे सुवर्ण में ताम्बे के संयोग से अशुद्धता होती है फिर भी वह सोना तो सोना ही है। इसी प्रकार आत्मा में वर्तमान में कर्माधीनता से होने वाली मलिनता दिखाई पड़ती है तथापि वर्तमान अवस्था में भी उसका मूल स्वभाव अखण्ड

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** ************************

ज्ञायक रूप से शुद्ध ही है ऐसा ही हमने कानजी के समयसार प्रवचन गा. नं. ६ पृष्ठ २०३ में पढ़ा है।

उत्तर : भैया जी तुम्हारे कहने मे तो यह बात झलकती है कि आत्मा की वह वर्तमान मलिन अवस्था आत्मा से भिन्न है और आत्मा उससे भिन्न जैसे कि घड़े में आंबले रखे हुए होते हैं सो ऐसा नहीं है। तुमने जो सोना और तांबा का उदाहरण दिया वह भी यहां ठीक नहीं बैठता है क्योंकि सोना के और ताम्बा के परमाणु पुद्गल उस रूप में उस समय भी अपने अपने रूप में पृथक पृथक हैं जो कि आपस में मिले हुए हैं ऐसा संयोग तो पुद्गलकर्म परमाणवों का और सिद्ध भगवान की आत्मा का भी है परन्तु वहाँ सिद्ध भगवान की आत्मा में उन पुद्गल परमाणुओं द्वारा विकार नहीं है। यहां संसारी जीव में तो पुद्गल कर्म वर्गणावों का एकबन्धान रूप ऐसा घनिष्ट संयोग है । जिससे कि जीव ही रागादिमान हो रहा है संयोग एक प्रकार का नहीं होता । यहां परस्पर परिणम स्वरुप संयोग है इसके समझने के लिये -

उदाहरण - एक नौजवान लड़के ने किसी नौजवान खूबसूरत औरत को देख लिया और उसे देख कर वह काम पीड़ित हो गया ताकि उसके बड़ी जोर की कामज्वर हो आई ! वैद्य को बुलाया गया जो वैद्य कहता है कि इसने अपने मन में किसी औरत को याद कर रखा है उससे इसके यह बुखार है जब तक यह उस औरत को न भूल पावेगा तब तक इसकी बुखार नहीं हटेगी । मतलब इस लड़के के बुखार है उस औरत के संयोग संसर्ग से परन्तु वह हुई है इसी के मन में फितूर आकर उसके द्वारा, और का कोई हाथ नहीं है वैसे ही विकार है कर्मों के संयोग से परन्तु है आत्मा में ही आत्मा खुद ही उस विकार रूप परिणत हो रहा है अशुद्ध बना हुआ है और जब अशुद्धता है तब शुद्धता कहां। अशुद्धता और शुद्धता ये दोनों ही अवस्थायें हैं। अशुद्धता विभाव - पर द्रव्य के संयोग से होने वाला विकार भाव है और शुद्धता स्वभाव पर द्रव्य का संयोग न होने पर होने वाला सहज भाव जैसे अग्नि के संयोग से जल में उष्णता आ जाती है अर्थात् जल ही गर्म बन जाता है और अग्नि का संयोग हटने पर वापिस शीतल हो जाता है तो कहना चाहिये कि उष्णता जल का विभाव और शीतलता उसका स्वभाव है परन्तु जिस काल में उसमें उष्णता है तो शीतलता नहीं है क्योंकि उष्णता और शीतलता ये दोनों उसके एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** ************************

ही स्पर्श गुण की परस्पर विरुद्ध पूर्वोत्तर में होने वाली पर्यायें हैं बस इसी प्रकार जीव की शुद्धता और अशुद्धता का हिसाब है. अशुद्धता आत्मा के जीवत्व यानी चेतना गुण का रागद्वेष रूप परिणाम है और शुद्धता वीतरागता रूप परिणमन ! एवं ये दोनों एक साथ नहीं हो सकती जैसा कि कान जी के समयसार प्रवचन में भी गाथा नं. २ के अर्थ में पृष्ठ ८४ पर लिखा हुआ है कि शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थायें एक साथ नहीं होती ! जब रागद्वेष अज्ञान दशा होती है तब शुद्ध दशा नहीं होती और जब शुद्ध वीतराग दशा होती है तब अशुद्ध दशा नहीं होती, इस प्रकार !

प्रश्न : चौथे से ऊपर और बारहवें से पहले सरागता भी होती है और वीतरागता भी ऐसा तो कई आचार्यों ने बतलाया है फिर यह कैसे हो सकता है कि जहां सरागता है वहां वीतरागता नहीं।

उत्तर : भैया जी वीतरागता या शुद्धता आत्मा का स्वभाव है सहज दूसरे की अपेक्षा बिना अपने आप से होने वाला परिणाम है अतः वह एक तरह का है उस में भेद नहीं होता। हां सरागता परसंयोगी भाव है परसंयोग अनेक तरह का होता है। अतः सरागता भी अनेक तरह की होती है - तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र या मन्द, मन्दतर और मन्दतम इत्यादि। सो जहां मन्दरागता होती है वहां उसे तीव्ररागता को दृष्टि में लेकर उसकी अपेक्षा से विरागता कह दिया जाता है परन्तु रागाभाव का नाम विरागता वह वहां कहां है। जैसे आदमी के एक सौं पांच डिग्री बुखार था सो ढल कर एक सौ चार या तीन डिगरी रह गया, अब जब कोई पूछता है कि कैसा है तो वह कहता है कि अब तो आराम है, किन्तु देखा जाय तो आराम कहां है, बुखार कमजोर है उसी को लेकर वह ऐसा कहता है। वही चतुर्थादिगुणस्थान वालों का हाल है। उसको छोड़ो ! घोर मिथ्यादृष्टि के तो सरागता अर्थात् अशुद्धता पूरी है वहां तो मन्दरागता भी तो नहीं है जिसको कि शुद्धता नहीं किन्तु आगम में विशुद्धता कही गई है।

प्रश्न : अगर संसारी जीव में शुद्धता न होकर अशुद्धता ही है तो फिर वह जीव से बिल्कुल पुद्गल रूप जड़ क्यों नहीं हो जाता है.

उत्तर : वाह भैया जी खूब कहा जैनाचार्यों ने जीव की अशुद्धता का अर्थ पुद्गल रुप होना कहां लिखा है। पुद्गल जड़ रुप तो बिल्कुल क्या उसका एक प्रदेश भी नहीं होता ! पुद्गल के वर्णादिपन को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** *************************

शतांश या सहस्त्रांश में भी नहीं अपनाता। जीव की अशुद्धता का अर्थ तो रागादिमत्ता है सो जहां होती है वहां वीतरागता नहीं और जहाँ सिद्धों में वीतरागता होती है वहां सरागता नहीं। दोनों एक जगह नहीं होती ।

प्रश्न : अगर संसारी में वीतरागता है ही नहीं तो फिर आ कहां से जाती है।

उत्तर : राग परसंयोगी भाव है अतः कादाचित्क है उसके दूर हो जाने से मिट जाने से वीतरागता सहज ही है ।

प्रश्न : नासतोविद्यते भावो नाभावोविद्यते सतः ऐसा जब लिखा है तो जो बिल्कुल है ही नहीं वह होना भी नहीं चाहिये।

उत्तर – यह तो हमारे जैनाचार्यों का कहना द्रव्यों के बारे में है अर्थात् नया द्रव्य कोई पैदा नहीं हो सकता है तो जो द्रव्य है उसका कभी नाश भी नहीं हो सकता ! सरागता विरागता तो जीव की अवस्थायें हैं पर्यायें हैं पर्याय को तो क्षणिक माना है, वह तो नई से नई पैदा होती रहती है और उससे पहले वाली का अभाव भी उसके साथ हो जाता है ऐसा सिद्दान्त है। मतलब जहां विभाव परिणाम है वहां स्वभाव नहीं ! जीव का उर्द्धगमन स्वभाव माना है किन्तु सकर्मदशा में जैसा कर्मयोग होता है वैसी नीचे या ऊपर या उधर इधर गति भी जीव की होती है। अग्नि सहज ऊपर को जाती है किन्तु जब हवा का झकोरा जिधर का होता है उधर को जाया करती है। बस अशुद्धता के समय शुद्धता नहीं।

आचार्य श्री ने आगे पुण्य पापाधिकार में बत्थस्ससेदभावो इत्यादि गाथा दी है, वत्थस्ससेदभावो जहणासेदि मलमेलणासत्तो! मिच्छत्त मलोच्छिण्णं तहसम्मत्तखुणायव्व ।।१५७ ।।

इस में भी यही बताया है कि वस्त्र का श्वेतपना मल से नष्ट हो जाता है वैसे ही मिथ्यात्व से सम्यक्त्व नष्ट हो रहा है उच्छिन्न का अर्थ भी नष्ट होना ही होता है। हां टीकाकार ने अवच्छन्न शब्द मान कर मिथ्यात्व से ढका हुआ सम्यक्त्व ऐसा अर्थ किया है सो वहाँ भी उसको ज्ञानावरण शब्द के समान समझना, जैसे ज्ञान को आवरण यानी पड़दा सो ज्ञान के ऊपर पड़दा तो किसी भी चीज का हो ही नहीं सकता जैसे घड़े के नीचे दीपक को दबा दिया जाता है वैसे ही ज्ञान हो तो उसे कोई दबा भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

नहीं सकता। परन्तु वहां आवरण शब्द इसलिये है कि वह ज्ञानावरण नष्ट हो सकता है और जब ज्ञानावरण नष्ट हो जाता है तो आत्मा में पूर्ण ज्ञान हो जाता है न कि पूर्ण ज्ञान इस समय मोजूद है। जितने अंश में ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है उतने अंश में आत्मा में ज्ञान इस समय भी है।

प्रश्न : सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जो अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान होता है वह तो निरावरण है अतः निर्दोष ही रहता है उसमें क्या अशुद्धता होती है।

उत्तर : यह ठीक है कि उतने ज्ञान का कभी अभाव नहीं होता अगर उसका भी अभाव हो जाय तो आत्मा जड़ हो जाय। परन्तु उसमें सदोषता नहीं होती तो क्या वह उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है? नहीं किन्तु मिथ्या होता है.

प्रश्न : ज्ञान में मिथ्यापन तो मिथ्या दर्शन के संयोग से होता है ज्ञान तो निर्दोष ही है।

उत्तर : सामान्यतया आत्मा का एक चेतना गुण खास है ! उसके श्रद्धान ज्ञान और आचरण अर्थात-मानना जानना और लगन यों तीन तरह का परिणमन है जैसे कि पुद्गल का स्पर्श गुण आठ प्रकार का है उसमें से स्कन्धों में चार प्रकार का और परमाणु में भी कम से कम दो प्रकार का स्पर्श एक साथ रहता है वैसे ही आत्मा में तीनों तरह का परिणमन चेतना का साथ में होता है। अब जब श्रद्धान उलटा है शरीर को आत्मा मानता है तो शरीर को ही आत्मा जानता है भी । कहीं ऐसा थोरे ही है कि ज्ञानचन्द और मानचन्द दो हैं उनमें से मानचन्द झूठ बोलता है और ज्ञानचन्द सच किन्तु ज्ञानचन्द भी मानचन्द की साथ है अतः झूठा सा माना जाता है । श्रद्धा, ज्ञान आचरण ये तो आत्मा की चेतना के परिणाम हैं तीनों अभिन्न है, लक्षणादि से इनमें भेद हो जाता है अतः इनको कंथाचिद् भिन्न मान कर इनकी विवेचना चलती है इसे समझने के लिए उदाहरण जैसे किसी ने सुना कि लड्डू बड़ा स्वादिष्ट और मीठा होता है एवं उसे सुन कर उसके खाने के लिए बनाने की इच्छा हुई तो वह पूछता है कि उसके लिए क्या क्या करना चाहिए कितना मीठा, कितना घृत, कितना आटा तथा कितनी और कोई चीज चाहिये और किस प्रकार से वह बनेगा इस तरह पूछ कर वैसे ही उसे बनाता है एवं बना चुकने के बाद में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** ***********************

उसे वह जब खाता है तो उस लड्डू का जो अपूर्व स्वाद है वह आता है उस समय मग्न होकर उसी का आस्वादन करता है। वहां पर उसे फिर यह कैसे क्या बना इसका विचार करने की भी जरुरत नहीं रह जाती अगर उस विचार में अब वह पड़ जाये तो उसका वह लड्डु खाने का आनन्द जाता रहे। और कहीं इसी विचार ही विचार में उस लड्डू के मिठास, घी वगैरह को जुदा करने लग जावे तब तो न तो वे सब उससे जुदे ही हो पावें और न लड्डू ही अपनी ठीक हालत में रहे वैसे ही –

जहां विवेचन वही जीव के दर्शन बोधचरण कहे ।
किन्तु आप ही आप वहां, फिर होकर अनुभव मग्न रहे ॥
दाहक, पाचक और प्रकाशक अग्नि एक ही होती है।
जिसे शिष्य की मृदुल मनीषा भिन्न २ कर जाती है ॥८॥

आत्मा का सम्यक्त्व गुण तो पाचक है उसके होने पर आत्मा परिपक्व रूप में आता है। ज्ञान प्रकाशक है वह सब को प्रगट करता है। और चारित्र दाहक रूप है जो कर्मों को जला कर आत्मा को निर्मल बना देता है। उस उपर्युक्त शुद्धात्मा का एक अद्वितीय चैतन्य चमत्कार मात्र स्वरूप है उसमें किसी भी प्रकार के भेद को जरा भी स्थान नहीं है नर नारकादि सांसारिक अवस्थाओं से तो वह दूर होता ही है किन्तु आत्मा में सम्यग्दर्शन होता है सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यक् चारित्र होता है ये उस आत्मा के गुण हैं आत्मा उन गुणों का धारक गुणी है इत्यादि वर्णन करना भी उस शुद्धात्मा के स्वरूप को बिगाड़ना है क्योंकि वह तो अस्तित्व वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व, अव्यावाधत्व वगैरह अपने चेतनत्व के साथ में अनुस्यूत होकर रहने वाले अनन्त गुण धर्मों का एक अखण्ड पिण्ड है परन्तु इस प्रकार के विवेचन के बिना उस के स्वरूप को पहिचाना नहीं जा सकता। जैसे कि अग्नि एक चीज है उसका ज्ञान किसी बच्चे को कराना हो तो उसे कहा जाता है कि जिसमें दाहकपना हो जो तृणादि को जला डालती हो जिसमें पाचकपना हो जो कि अपने ऊपर बाकायदा रक्खी हुई खिचड़ी वगैरह को पका देती हो और जो प्रकाशक हो उजाला कर दिया करती हो वह अग्नि होती है ऐसा बताने पर ही वह अग्नि को जान पाता है बस तो इसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान ओर सम्यक् चारित्र को सम्भालते हुए चलकर शुद्धात्मा के स्वरुप को प्राप्त किया जाता है हां वहां पर पहुँचनें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** ************************

पर अनुभव मग्न हो जाने से फिर आप ही आप रह जाता है मतलब व्यवहार नय के द्वारा ही निश्चय पर पहुँचा जाता है इसी को नीचे फिर स्पष्ट करते हैं।

किसी यवन को बिना यावनी भाषा बोले समझाना ।
कभी नहीं हो सकता इसको सभी जनों ने है माना ॥
इसी तरह व्यवहार द्वारा सत्पथ पर लाया जाता ।
भद्रजनों को क्यों कि उन्हें तो सरलतया वह है भाता ॥९॥

जैसे किसी भी उर्दू जानने वाले को अगर कोई बात बतलाना चाहें तो उर्दू में ही हमें बोलना होगा अन्यथा वह समझ नहीं सकता। उसी प्रकार व्यवहार में फंसे हुए संसारी जीवों को व्यवहार के द्वारा ही परमार्थ का उपदेश दिया जाता है। जैसे कि सीढ़ियों के द्वारा ही छत पर पहुँचा जाता है ऐसा इस गाथा नं. ८ में स्पष्ट लिखा है। तह वव हारेण बिणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥ अर्थात् जो लोग निश्चय को ही उपयोगी समझ कर व्यवहार की अवहेलना कर बैठते हैं वे पूरे गलती पर हैं। हां जो लोग सिर्फ व्यवहार को ही अपनाये रहते हों निश्चय की तरफ जिनका कोई रुख ही न हो वे भी भूले हुए हैं जैसे किसी को कहा गया कि व्यापार व्यवसाय करने से धन प्राप्त होता है इस पर से अब वह सोदा लाने लगा और बेचने लगा किन्तु लाता है उसी भाव में बेच भी देता है अथवा लाता है चार आने गज में और बेच देता है पौने चार आने में सिर्फ लाने बेचने का ध्यान है नफे टोटे का नहीं वह अन्त में दिवालिया बन कर के प्रत्युत दुःखी होगा सुखी नहीं इसी बात को नीचे भी स्पष्ट करते हैं।

द्वादशाङ्ग का ज्ञाता होकर शुद्ध स्वात्म लवलीन बने ।
श्रुत केवली उसे ही कहिये और ठोर मन नहीं सने ॥
और और बातों में जब तक लगा हुआ होवे उपयोग ।
ऐसी हालत में हे भाई कहो कहां निजात्म का भोग ॥१०॥

जो आदमी सकल श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम से श्रुत ज्ञान को प्राप्त होकर उसके द्वारा शुक्ल ध्यान रूप अवस्था को प्राप्त करता हुआ वह केवल अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव कर रहा हो उस समय वहां निश्चय (नय से) श्रुत केबली है परन्तु वही द्वादशाङ्ग का ज्ञानी होकर भी जिस समय अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव रूप शुक्लध्यान में लग्न न होकर जीवा जीवादि सम्पूर्ण तत्वार्थों के जानने या अनुभव करने रूप धर्म ध्यानमय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ************************

होता है उस समय वह व्यवहारश्रुतकेवली कहलाता है मतलब यह कि इस पञ्चम काल के श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी वगैरह व्यवहार श्रुत केवली थे क्यों कि उन्हें साक्षात् शुक्लध्यान रूप स्वसम्वेदन ज्ञान नहीं था किन्तु यथायोग्य धर्म ध्यान था ऐसा श्री समयसार जी की गाथा नं. ९ और १० की टीका में श्री जयसेनाचार्य जी ने स्पष्ट लिखा है।

श्रुतेन केवली अर्थात् जो श्रुतज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा के अनुभव में लगा हो वही श्रुतकेवली होता है । शास्त्र के अभ्यास का प्रयोजन अपने आपेको प्राप्त करना है पढ़ लिखकर भी जो आदमी मानवता को न अपनावे तो वह उसका पढ़ना किस काम का वह तो उपर्युक्त दिवालिये सरीखा हुआ ! जो हिसुयेणभिगच्छइ अप्पाणमिणंतु केवलं सुद्धं। तंसुयकेवली मिसिणो भणान्ति लोयप्पईपयरा ॥९॥

इस गाथा में आये हुए श्रुत शब्द से अस्मदादि सर्वसाधारण में होने वाले सामान्य श्रुतज्ञान को लेकर जो लोग इस गाथा का अर्थ इस प्रकार लगाते हैं कि अपने लेशमात्र आंशिक श्रुतज्ञान के द्वारा भी जो शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं वे भी वास्तविक श्रुत केवली होते है अर्थात् एक पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च भी जब श्रीगुरुसमागम से तत्व बोध को पाकर सम्यग्दर्शनधारी होता है तो वह श्रुत केवली है इस प्रकार का मतलब लगाने वाले गलती करते हैं। क्योंकि आचार्य श्री ने इसी का स्पष्टीकरण नं. १० की गाथा में किया है। अर्थात् जो सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है उस श्रुत ज्ञान का नाम श्री जिनभगवान ने श्रुत केवली बतलाया है (गुण गुणी में अभेद करके) अथवा जो सम्पूर्ण श्रुत ज्ञान को जान रहा है प्राप्त हो रहा है वह श्रुतकेवली होता है क्योंकि ज्ञान जो कुछ है वह आत्मरूप है आत्मा को छोड़ करके ज्ञान कोई जुदी चीज नहीं है अतः पूरा ज्ञान प्राप्त होना ही पूरी आत्मा का प्राप्त होना है और तभी उसका नाम श्रुतकेवली है ! हां पूरा श्रुतज्ञान प्राप्त किये बिना तो पूरा आत्मज्ञान होता ही नहीं जैसा कि आगे गाथा नं. १५ में भी बताया गया है किन्तु पूर्ण श्रुतज्ञान पाकर भी अगर आत्म संवेदन में नहीं लगा है, और और बातों में लग रहा है तो उस समय वह व्यवहार श्रुत केवली ही है । हां तिर्यञ्चों को भी सम्यग्दर्शन होता है किन्तु वह आत्मानुभव रूप न होकर आत्मश्रद्धानमय चतुर्थ गुण स्थान में होने वाला सम्यग्दर्शन होता है। अस्तु। अब निश्चय और व्यवहारनय का अर्थ बतलाया जाता है -

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

जो कुछ हुआ वही है होगा यों निश्चय नय का सत्कार ।
है जो बनावटीपन आता उसको बतलाना व्यवहार ॥
निश्चय नय को अपना करके दे विकार को दूर हटा ।
उसी जीव के अन्तरङ्ग में समझो सम्यग्भाव सटा ॥११॥

आचार्य देव ने समयसार जी की इस ग्यारहवीं गाथा में निश्चय नय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ बतलाया है। भूतः स एवार्थः प्रयोजनं यस्य स भूतार्थो निश्चयनयः सामान्य विषयः द्रव्यार्थिक इति। अभूतोऽपूर्व एववर्तमानोऽर्थः प्रयोजनं यस्यसोऽभूतार्थः पर्यायार्थिको विशेषविषयो व्यवहार-नय इति । अर्थात् हर एक ही वस्तु में एक सामान्य और दूसरा विशेष इस तरह दो धर्म होते हैं वस्तु उन दोनों प्रकार के धर्मों का आधार होती है । सामान्य के द्वारा वस्तु सदा एक सी होती है उसमें कभी कोई परिवर्तन होता हुआ नहीं प्रतीत होता किन्तु विशेष के द्वारा वस्तु हर समय और से और होती रहती है ! अब इनमें से सामान्य को विषय करने वाला तो निश्चय नय है अतः उसकी दृष्टि में वस्तु जो कुछ जैसी पहले थी वैसी ही अब भी है और आगे भी रहेगी ! परन्तु व्यवहार नय की निगाह वस्तु के नयेपन पर जाती है वह वस्तु के अन्दर परसंयोगादि के द्वारा जो बिगाड़ सुधार होता है उसको बतलाता रहता है। अब व्यवहार नय को मानते हुए एवं उसके द्वारा निर्दिष्ट अपने आप में होने वाले विकार को दूर हटाकर जो आदमी निश्चय नय के द्वारा निर्दिष्ट अपने निर्विकार स्वरूप को प्राप्त करता है वही सम्यग्दृष्टि है,सच्चा है, भला है यही भूतार्थं श्रयित्वाखलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः इसका मतलब है। प्रत्युत अपने आप में वर्तमान होते हुए विकार को भी न मानकर अपने को निर्विकार कहने वाला जो है वह तो घोरमिथ्या दृष्टि है बिल्कुल झूठा है इस बात को समझने के लिये हम एक दृष्टान्त देते हैं - जैसे मान लो कि एक आदमी रसोई घर में सो गया और नींद में उसके उपर रसोई घर का धूम सा पड़ कर उसका मुंह काला हो गया जब वह उठा तो उसका मित्र उसे हंसने लगा कि तुम्हारा मुंह तो काला हो गया है बल्कि उसने उसके सामने दर्पण करके दिखला भी दिया तो रोते रोते वह अपने बाप के पास पहुँचा और कहने लगा कि हाय मेरा मुंह तो काला हो रहा है मैं क्या करुं तब उसका बाप उसे घबराया हुआ देखकर बोला कि अरे पागल रोता क्यों है कौन कहता है कि तेरा मुहं काला है तेरे मुंह में कारिख कहां है अगर है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** **********************

भी तो वह तेरे मुहं से भिन्न है तेरा मुंह तो जैसा था वैसा ही है उसका क्या बिगड़ गया। अब इस लड़के का मित्र और इसका पिता इन दोनों के कहने का सारांश एक ही है कि वह अपने मुंह को साबुन और पानी से धोले और साफ कर ले ! न तो मित्र के कहने का ही यह अर्थ है कि अब वह साफ स्वच्छ नहीं बन सकता और न पिता के ही कहने का यह मतलब है कि उसे साफ करने की कोई जरुरत नहीं है किन्तु पिता का कहना समुचित आश्वासन रूप है एवं मित्र का कहना वर्तमान हालत को स्पष्ट करने वाला है। बस यही निश्चय और व्यवहार का हाल है निश्चय नय पिता की तरह है तो व्यवहार नय मित्र की तरह। दोनों ही अपने अपने विचार में सच्चे हैं न कि एक सच्चा और दूसरा झूठा, हां निश्चय की दृष्टि में व्यवहार अगर गलती पर है तो व्यवहार की दृष्टि में निश्चय भी झूठा है। श्री आचार्य महाराज ने तो जगह जगह दोनों को ही अपने अपने विषय में उपयोगी बतलाया है एवं दोनों के कार्य को संक्षेप में हम यहां बता रहे हैं –

निश्चयनय	व्यवहारनय
१. द्रव्यार्थिक है।	१. पर्यायार्थिक होता है।
२. सामान्य को विषय करता है।	२. विशेष का कथन करने वाला है।
३. अभेद स्थापन करता है अतः एक है।	३. भेद दिखलाता रहता है अनेक हैं।
४. मूक है गूंगा है।	४. बोलने वाला है निश्चय के स्वरूप को भी व्यवहार ही बतलाया करता है और अपने आप को भी ।
५. प्रतिषेधक है क्योंकि व्यवहार के बाद में आता है उसके अप्राप्त होने पर फिर व्यवहार नहीं रहता।	५. प्रतिषेध्य है निश्चय के नीचे होकर रहता है।
६. राजा की तरह सम्भालने वाला है।	६. मन्त्री की भांति कर्म कर है।
७. तादात्म्य को लेकर उपादान पर दृष्टि रखते हुए पारिणामिक भाव का ग्राहक होता है।	७.निमित्त को प्रधानता देते हुए संयोग से होने वाले औदयिकादि भावों का अपनाने वाला है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ *********************

यही बात नीचे में बताई जा रही है -

शुद्धात्मानुगमन करना ही कहा शुद्धनय का विश्राम ।
एक पारिणामिक भावाश्रित वीतरागियों का वह काम ॥
औदयिकादिक भावोंमय जो होवे सराग सद्दृष्टि ।
नय व्यवहार उसे उपयोगी परथा होवे अपकृष्टि ॥१२॥

मतलब यह कि इस बारहवीं गाथा में आचार्य महाराज शुद्ध (निश्चय) नय के पात्र कौन लोग होते हैं और व्यवहार नय कहां तक कार्यकारी है, इसी बात को स्पष्ट करके बतला रहे हैं कि जो कोई लोग सोलह बानी से तैयार हुए सुवर्ण की भांति परम शुद्ध परिणामिक भाव का अनुभव कर रहे हो एक दो चार बानी वाले अपूर्ण शुद्ध सुवर्ण सरीखे अपरम (मध्यम) भाव से जो पार हो चुके हो उसका जिनको भान भी न रहा हो ऐसे वीतरागी ऋषियों के लियेही शुद्धनय उपयोग योग्य है क्योंकि वह सम्पन्न सुवर्ण के समान अविचलित अखण्ड एक स्वभाव रूप शुद्धआत्मद्रव्य को विषय करने वाला है । किन्तु जो लोग पहली दूसरी आदि बानी वाले सुवर्ण के समान मध्यमभाव को अनुभव कर रहे हों अन्तिम वीतराग अवस्था तक न पहुँच पाये हों उनके लिये तो उनकी कचाई को स्पष्ट कर दिखलाने वाला व्यवहारनय ही कार्यकारी होता है जैसा कि आत्मख्याति में लिखा है -

ये खलु पर्यन्त पाकोत्तीर्ण जात्य कार्तस्वर स्थानीयं परम भाव मनुभवन्ति तेषां प्रथम द्वितीयाद्यनेकपाक परम्परा पच्यमान कार्तखरानुभवस्थानीयापरम भावानुभव शून्यत्वात किलशुद्ध द्रव्यादेशितया समुद्योतिता स्खलितैकस्वभावैकभावः शुद्धनय एवोपरितानेक प्रतिवर्णिका स्थानीयत्वात परिज्ञायमानः प्रयोजनवान्। अन्येतु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाक परम्परा पच्यमान कार्तस्वर स्थानीयमपरमभावमनुभवन्ति तेषां पर्यन्तपाको तीर्ण कार्तस्वर स्थानीय परमभावानुभवशून्यत्वादशुद्ध-द्रव्यदेशितयोपदर्शित प्रतिविशिष्टैक भावानेक भावो व्यवहार नयो विचित्र वर्णमालिका स्थानीयत्वात परिज्ञायमान स्तदात्वे प्रयोजनवान् तीर्थ तीर्थ फलयेरित्थमेव व्यवस्थित्वादिति ।

इस सब कथन पर से उन सज्जनों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो कि दुनियांदारी के आरम्भ परिग्रह के फन्दे में पडे हुए होकर भी अपने आप को समयसार के अनुसार निश्चय नयावलम्बी बताकर शुद्ध सम्यग्दृष्टि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ *************************

होने का दम भर रहे हों। एवं शुद्ध निश्चय सम्यग्दर्शन का क्या स्वरुप है और वह कब होता है यह नीचे प्रगट किया जा रहा है -

इतर जीव या अजीव आश्रव बन्ध और सम्वर पर से
तथा निर्जरा मोक्ष पुण्य पापाभिधान के भी घर से।
हट कर रुचि अपने में यह सम्यक्त्व शुद्ध नयका जानो
वीतराग छद्मस्थ अवस्था जहां वहां पर पहिचानो ॥१३॥

श्री जिनभगवान के बताये अनुसार जीवअजीव आश्रव बन्ध सम्वर निर्जरा मोक्ष पुण्य और पाप इन नव पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान करने रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन प्राप्त करके चतुर्थ गुणास्थानवर्ती बन कर फिर पञ्चमादि गुणस्थानों में सम्वर और निर्जरा का उत्कर्ष एवं आश्रव और बन्ध का क्रमशःअपकर्ष करते हुये आगे बढ़ कर अन्त में इतर समस्त जीवाजीवादि पदार्थों पर से अपनी चित्तवृत्ति को हटा कर सिर्फ अपनी आत्मा के अनुभवन करने में तल्लीनता रुप परम समाधि धारण कर ली जाती है उस परपदार्थों में सम्पूर्णतया उदासीनता रुप वीतराग छद्मस्थ अवस्था की हालत में जो इस जीव का एकान्त आत्माभिरुचिरूप परिणाम होता है उसी का नाम निश्चय सम्यक्तव है ! जैसाकि पं. दोलतराम जी ने भी अपने छहढाले में परद्रव्यनतैभिन्न (हट कर) आप में रुचि सम्यक्त्व भला है इस वाक्य द्वारा प्रगट किया है । और समय सार जी के तात्पर्य वृत्तिकार श्री जयसेनाचार्य जी ने तो याचानुभूतिरात्मन: परम समाधिकालेसाचैव निश्चय सम्यक्त्वं इस प्रकार स्पष्ट ही लिखा है । किञ्चकानजी स्वामी ने भी अपने समयसार प्रवचन गाथा नं. १२ की व्याख्या में पृष्ट ३४६ पर लिखा है कि - मैं आत्मा हूँ मैं अपूर्व आनन्द का वेत्ता हूँ ऐसा विकल्प भी जब बुद्धि में से दूर होजाता है तब आत्मानुभव सहित निश्च्चय सम्यग्दर्शन होता है और तब अपूर्व आल्हाद का अनुभव होता है। ऐसा सो ठीक ही है क्योंकि उपर्युक्त विचार भी भेद रूप है एवं रागांश को लिए हुये है अत: निर्विकार शुद्ध दशा में उस प्रकार का सम्वेदन भी बाधक ही होता है एवं शुद्धात्मानुभव तभी होता है जबकि आत्मा पूर्ण वीतरागी हो लेता है जैसाकि कानजी ने ही इससे पहले पृष्ठ ३४४ पर लिखा है कि - जो पुरुष पहले दूसरे तीसरे इत्यादि अनेक तावों की परम्परा से पकने वाले अशुद्ध स्वर्ण के समान वस्तु की अनुत्कृष्ट मध्यम भाग- सांधक भाव की स्थिरता का अनुभव करते हैं उन्हें अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान पूर्ण केवलज्ञानरूप उत्कृष्ट साध्यभाव का अनुभव नहीं होता। एवं इसके नीचे वे इसी बात का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ************************

स्पष्टीकरण इस प्रकार से करते हैं कि राग को दूर करके स्थिरता करूं इसमें मन का संयोग और पर की अपेक्षा होती है वह अशुद्धअवस्था वर्तमान में होती है। राग का अमुक अंश में दूर होना और अमुक अंश में रहना तथा अंशतः स्थिरता की वृद्धि होना सो व्यवहार है भिन्न भिन्न भूमिका के अनुसार अनेक प्रकार से और पूर्व अवस्था से भिन्न २ (उत्पाद व्यय रूप) भाव स्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं ऐसा व्यवहार नय विचित्र अनेक वर्ण माला के समान होने से परिज्ञात उस काल में प्रयोजनवान है। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहार नय के विषय को यथावत जानना प्रयोजनवान हो जाता है जैसे चौहदवें गुण स्थान से नीचे के गुण स्थान में जितने प्रमाण में मलिनता एवं निर्मलता के अंश हैं उन्हें उतने अंश में जानना सो व्यवहार है और पर निमित्त के भेद से रहित त्रैकालिक एक रूप अक्रिय आत्मा को पूर्ण सामर्थ्यरूप अखण्ड जानना सो निश्चयनय अथवा परमार्थ है उसे शुद्ध दृष्टि के द्वारा लक्ष्य में लेकर भेद को गौण करके पूर्ण रूप वस्तु को ध्रुव रूप से श्रद्धा का विषय बनाना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की अवस्था है इसलिये वह भी व्यवहार है। मतलब इस सबका यह कि- शुद्धात्मस्वरूप की श्रद्धा को लिये हुए व्यवहारनय का अनुयायी चतुर्थादिगुण स्थान वर्ती जीव व्यवहार सम्यगद्दष्टि होता है किन्तु स्पष्ट चारित्र दशा के साथ एकता को स्वीकार किये हुए परम वीतराग आत्मानुभवमग्न जीव जो हो वह निश्चय सम्यग्दृष्टि होता है। अस्तु। वह निश्चय सम्यक्त्व का धारक जीव किस प्रकार शुद्धात्माचिन्तवन करता है सो ही नीचे के वृत्त में स्पष्ट किया जाता है -

वाह्य वस्तुओं को तज करके रागद्वेष रहित होता ।
हुआ शुद्ध अपने आपे में जमा रहे खाकर गोता ।।
और तरफ से चित्त हटाकर ऐसी स्पष्ट अवस्था का।
नामशुद्धनय कहलाता है शुक्लध्यान का यह खाका ।।१४।।

अर्थात् सम्पूर्ण बाहरी चीजों को छोड़ करके राग द्वेष रहित होते हुए अपने उपयोग को और सब तरफ से हटाकर केवल अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव करने में तल्लीन हो रहने का नाम शुद्धनय है जिसको शुक्लध्यान या निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं। यहां पर मूल ग्रन्थकार ने शुद्ध आत्मा के पांच विशेषण देकर उसे स्पष्ट किया है वे ये हैं - १ अवद्धस्पृष्ट २ अनन्य ३ नियत ४ अविशेष और ५ असंयुक्त। मतलब कि यह आत्मा द्रव्य कर्म और नो कर्म से बिल्कुल अछूता है जैसे जल में होकर भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

कमल का पत्ता जल को नहीं छूता समार्द्र नहीं होता उसी प्रकार यह आत्मा भी भले ही कर्म और नो कर्मों में विद्यमान हैं फिर भी उनसे भिन्न हैं। २ यह आत्मा यद्यपि नर नारकादि अनेक पर्यायों को धारण करता है फिर भी इसका आत्मत्व कहीं नहीं जाता है बल्कि कुण्डलकटकादि की हालत में सुवर्ण की तरह यह तो उन सब में वही एक चैतन्यमय बना रहा है। ३ अपने आपे में स्थित है जैसे कि समुद्र में ज्वार भाटा आया करते हैं फिर भी वह अपनी मर्यादा से बाहर नहीं होता । ४ ज्ञान दर्शनादिगुणों के वर्णन द्वारा भले ही इसे भिन्न भिन्न कहा जाय फिर भी यह तो अखण्ड ही रहता है जैसे कि यह सोना भारी है सचिक्वण हैऔर पीला है इत्यादि पृथक वर्णन करने पर भी वह बिखर नहीं जाता । ५ रागादि विकल्परूप भावकर्मों से भी यह वास्तव में रहित ही है जैसे जल में जो उष्णता है वह जल का स्वभाव नहीं है वह तो सहज भाव से शीतल ही है उष्णता तो अग्नि की है। इस प्रकार विचार से यह आत्मा अभ्यास करते करते सविकल्प दशा पर से निर्विकल्प अवस्था पर आ पहुँचता है जहां पर कि फिर ध्यान ध्याता और ध्येय का भी भेद नहीं रह जाता जैसा कि पण्डित टोडरमल जी ने भी अपनी रहस्यपूर्ण चिठ्ठी में लिखा है वह सम्यक्त्वी कदाचित् स्वरूप ध्यान करने को उद्यमी होय है तहां प्रथम स्वपरस्वरूपभेद विज्ञान करे, नोकर्म, द्रव्यकर्म, भावकर्म रहित चैतन्यचिच्चमत्कार मात्र अपना स्वरुप जाने, पीछे पर का भी विचार छूट जाय केवल स्वात्मा विचार ही रहे हैं तहां अनेक प्रकार निज स्वरूप विषे भी अहंबुद्धि धारे हैं, मैं चिदानन्द हूं शुद्ध हूँ सिद्ध हूँ इत्यादि विचार होते सन्ते सहज ही आनन्द तरङ्ग उठे हैं रोमांच होय है ता पीछे ऐसा विचार तो छूट जाये केवल चिन्मात्र स्वरुप भासने लागे तहां सर्व परिणाम उस रूप विषे एकाग्र होय प्रवर्तें। दर्शन ज्ञानादिका वा नयप्रमाणादि का भी विचार विलय जाय। चैतन्य स्वरुप जो सविकल्पताकरि निश्चय किया था तिस ही विषे व्याप्य व्यापकरूप होय ऐसे प्रवर्तें जहां ध्यान ध्याता ध्येयपनों दूर भयो। सो ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव हैं । परन्तु यह उपर्युक्त हालत कब होती है उसका अधिकारी कौन है इस बात को नीचे की गाथा में खुद आचार्य देव ही बतला रहे हैं -

जो अनन्य अविरुद्ध बुद्ध अविशिष्ट शुद्द निंज को ध्यावे ।
शुभोपयोग मिटा करके शुद्धोपयोग को अपनावे ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** *********************

द्वादशाङ्ग मय जिन शासन का बोध स्वयं वह धरता है।
वरना शुद्धात्मानुभवन का ढौंग मात्र ही करता है ॥१५

अर्थात् ऊपर में पांच विशेषणों द्वारा जिसका वर्णन किया गया है उ शुद्धात्मा का अनुभव वही कर सकता है जिसने कि अशुभोपयोग की सा साथ शुभोपयोग की वृत्ति को भी दूर करके शुद्धोपयोग को प्राप्त कर चु है । साथ में इसके जो द्वादशाङ्मय जिनशासन का भी पूर्ण ज्ञान (क से कम भी ग्यारह अंग और नवपूर्व तक का ज्ञान) जिसको हो चु है क्यों कि बिना द्वादशांगज्ञान के शुद्धात्मानुभव जिसको कि शुक्लध्यान क जाता है वह हो ही नहीं सकता ऐसा शुक्लेचाद्ये पूर्वविदः इस सूत्र में सूत्रक श्री उमास्वामी महाराज भी लिख रहे हैं। तथा यही बात इस गाथा क अमृतचन्द्राचार्य कृत आत्मख्याति में भी लिखी हुई है देखो- ये यमब स्पष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः साखल्व खिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञातज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात् ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्म भूतिः । मतलब यही कि - आत्मा और ज्ञान कोई भिन्न चीज नहीं है अतः ज्ञान का प्राप्त होना ही आत्मा का पा जाना है उसके बिना आत्मानुभ कैसा प्रत्युत द्वादशाङ्ग ज्ञान होकर भी जब इस जीव की उस ज्ञानमय परिण होती है तभी आत्मानुभूति होती है अन्यथा नहीं । यहां मूल ग्रन्थ क ने शुद्ध आत्मा को नम्बर चोदह की गाथा में तो पांच विशेषणों से किया इस पन्द्रह नम्बर की गाथा में तीन विशेषणों से ही युक्तियुक्त किया है नियत और असंयुक्त इन दो विशेषणों को छोड़ दिया है और उनके बद अपदेशसान्तमध्यं ऐसा शब्द है जिस का अर्थ - दिश्यते इतिदेशः प्रारम्भ सचान्तेन मध्येन चसहिंत यत्र नविद्यते सोऽपदेशसान्मध्यस्तं जो कि आ आदि मध्य और अन्त से रहित अनाद्यनिधन है ऐसा है। इस विशेषण आचार्य ने उस आत्मानुभवक को मरणादि सभी तरह के भय से र बिल्कुल निर्भय होने वाला प्रगट किया है। एवं नियत और असंयुक्त दोनों विशेषण क्रमशः नियत तो अनन्य में और असंयुक्त यह अविशेष उपसंग्रहीत हैं क्योंकि जो अनन्य होता है वह नियत होता ही है तथा अविशेष होता है वह असंयुक्त ! संयोग के द्वारा विशेषता आये बिना रहती ! अगर इसके बदले असंयुक्त शब्द देकर उसमें अविशेष को समा माना जाय सो बनता नहीं क्योंकि संयोगाभाव में भी विशेषता होती यह बात अनन्य और नियत में है जो नियत हो वह अनन्य ही हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं है सुमेरु नियत तो है परन्तु अनन्य नहीं अपितु असंख्यात परमाणु मयस्कन्ध है । अतः आचार्य महाराज ने जो पाठ दिया है वह बहुत ही सुन्दर है। अस्तु। उक्त प्रकार का शुद्धात्मानुभव जब तक सम्पन्न न हो तब तक मुमुक्ष को सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप व्यवहार मोक्ष मार्ग का निरन्तर सेवन करते ही रहना चाहिये उसे कभी छोड़ना चाहिए नहीं।

आपापरका भेद जहां तक भी विचार में बना रहे
सम्यग्दर्शन बोध वृत्त के पालन में मन सना रहे।
यह तो है व्यवहार और निश्चय नय का है यह बाना
और सभी को भुला आपका अपने में ही लग जाना ॥१६॥

मुमुक्ष को चाहिये कि द्वैत भाव से अद्वैत आत्म भाव पर आने की कोशिश अवश्य करे परन्तु जब तक कि अपने उपयोग में आपा पर का कुछ जरा सा भी भेद भाव विद्यमान हो - यह मेरा और यह पराया अथवा यह मैं ओर यह पर इस प्रकार अपने आपके साथ साथ पर का भी भान हो रहा हो उसे पूरी तोर से भुला न पाया हो तब तक निरन्तर पूरी कोशिश के साथ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र भेद रूप रत्नत्रय को अङ्गीकार किये ही रहना चाहिए उसे व्यवहार समझ कर छोड़ नहीं बैठना चाहिये क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचरित्र यह आत्मा का ही तो स्वरूप क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह आत्मा का ही तो स्वरूप पर को पर समझते हुए उसे छोड़ते चले जाना और अपने आपकी तरफ रुख की कदम बढ़ाते चले जाना इसी का नाम तो रत्नत्रय है और इस प्रकार करते करते अन्त में और सब कुछ को भूल कर अपने आप में ही तन्मय हो लेना यही तो निश्चयनय का स्वरूप है जो कि साध्य है व्यवहार उसका साधन है साधन के बिना साध्य कहां! दोनों का परस्पर अनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों ही नय वस्तु गत अपने अपने योग्य धर्म को विषय करने वाली हैं। निश्चयनय सामान्य को ग्रहण करती है तो व्यवहारनय उसके विशेष को। एवं दोनों का तादात्म्य है। वस्तु का सामान्य व्यापक है तो विशेष व्याप्य सामान्य एक तरह से जनक है तो विशेष धर्म जग्य दोनों पिता पुत्र की सी भांति होते हैं। आदमी अपने पिता की सन्तान होता है तो अपने पुत्र का जनक भी इसी तरह अवान्तरसत्ता, महासत्ता सामान्य का विशेष होती है परन्तु अपनी प्रत्यवान्तर सत्ता के लिये वही सामान्य भी ठहरती है। गो पशु का भेद है विशेष है किन्तु धवल और धेनु के लिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वही सामान्य बन जाता है एवं व्यवहार और निश्चय दोनो नयों का विष कथंचित एक ही हो जाता है। अतः व्यवहारनय की एक दम से उपे कर देना ठीक नहीं है क्यों कि निश्चयन का भी परिचायक व्यवहार ही है।

याचक चमरादिक के द्वारा राजा को पहिचानेगा ।
पुनः भरोसा कर उसका उसकी समीपता टानेगा ॥
वैसे ही उपयोग द्वारा जानि आपको जो माने ।
तो अपना अनुशीलन करके चिदानन्द पद को ठाने ॥१७

याचक भिखारी जो कि अपना निर्वाह चाहता है वह चमरच्छत्रा असाधारण चिह्नों के द्वारा पहले राजा की पहिचान करेगा कि यह रा है फिर उस पर अपना भरोसा बान्धेगा कि यह राजा है तो मेरी अव सुनेगा और यथा योग्य परवरिस करेगा अतः इसके बाद वह उस रा के पास जाकर उसकी चाटुकार करेगा तो काम बनेगा इसी तरह मुमु जीव को चाहिये कि वह पहले तो उपयोग स्वरूप असाधारण धर्म द्वारा आत्मतत्व को पहिचाने जाने की इस शरीर में जो ज्ञान स्वभाव वह आत्मशब्द का वाच्य मैं हूँ। यह शरीर मेरे से न्यारा है जड़ है। फि इस पर विश्वास लावे कि जब न्यारा है तो न्यारा मानना ही ठीक है अं न्यारा प्राप्त करना तभी काम बनेगा इस प्रकार विश्वास करके उसे न्या प्राप्त करने रूप ही चेष्ठा करे उसका बार बार अनुशीलन करे तो इ प्रकार करने से एक न एक बार अपने सच्चिदानन्द पद को प्राप्त हो सक है. जहां उस पर उपयोग जमा कि काम बना सो ही आचार्य महा नीचे बतला रहे हैं :

जरा देर के लिये अगर यह आप आप में हो उपयुक्त।
हो सकता है देर नहीं फिर सभी पाप कर्मों से मुक्त।
किन्तु देह में नेह लगाये रहता है यह अज्ञानी।
इसीलिये है कष्ट उठाता यों कहती श्री जिनवाणी ॥१८

कि अगर यह संसारी जीव अपने इस शरीर और शरीर से सम्ब रखने वाले इतर सब पदार्थों पर से अपने उपयोग को हटाकर उसे थो सी देर के लिये भी अपने आत्मस्वरूप में लगा लेवे दृढता के साथ पर जम जावे तो फिर बात की बात में सम्पूर्ण प्रकार के पाप कर्मों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ *************************

मुक्त होकर सच्चा सुखी बन सकता है परन्तु इस अज्ञानी की तो अनादि की ही यह कुटेव पड़ी हुई है कि इस शरीर से मोह ममता लगाये हुए है बस इसी से अनेक प्रकार के कष्ट भोग रहा है ऐसा श्री जिनभगवान की वाणी का हुक्म है।

यह शरीर है सो ही मैं हूं और नहीं मैं हूं कोई ।
रागरोष ज्ञानावरणादिक हैं मेरे स्वभाव सोही।।
अप्रतिबुद्ध जीव है तबतक, धरा धाम धन मेरे हैं।
अहंकार ममकार भाव यों इसको जबतक घेरे हैं ।।१९।।

जब तक यह जीवसद्गुरु के समागम को नहीं प्राप्त होता अथवा उन्हें प्राप्त करके भी उनके कहने पर विश्वास नहीं लाता अप्रतिबुद्द रहता है तब तक इस वहिरात्मा का विचार ऐसा होता है कि यह शरीर है सो ही मैं हूं इस से भिन्न मैं और कोई चीज नहीं हूँ। मेरे मददगार मित्र बान्धव वगैरह से प्रेम करना उन्हें अपनाये रहना और मेरे से विरुद्द होकर चलने वाले लोगों पर रोष लाकर उन्हें बरबाद कर डालना ही मेरा काम है या स्वभाव है। मैं अल्पज्ञ हूँ, अल्पशक्ति हूँ अगर ऐसा न करूं तो ये मेरे जो धन, मकान, जमीन वगैरह हैं इन्हें चाहे सो हड़प ले उन्हें मैं मेरी उपर्युक्त चतुरता ही से तो बनाये हुए हूँ। इस प्रकार के अहंकार और ममकार रूप भाव हर समय इसे घेरे रहते हैं।

मोही इस चक्कर में पड़कर खाता भव जल में गोता
जो इस में न भूल पाता है वह ही असम्मूढ़ होता
पहले अहंकार खो करके होता सत्पथानुरागी
है ममत्व मिट जाने से वह होता त्यागी वैरागी ।।२०।।

मोही जीव इस पूर्वोक्त अहंकार ममकार के चक्कर में फंस कर ही जन्म मरण के दुःख भोगता है। परन्तु जब इसे ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाताहै - सोचता है कि शरीर और मैं एक कैसे हो सकता हूँ शरीर जड़ है मैं चेतन हूँ शरीर यहीं पड़ा रह जायेगा मैं यहां से चला जाऊंगा और यह सब कुटुम्बधनादि का सम्बन्ध इस शरीर के साथ यहीं पर रह जायेगा इत्यादि। वह असम्मूढ़ बन कर अपने विचारानुसार अपने विश्वास को बनाते हुए इस संसार चक्र में से उभरना चाहता है और सन्मार्ग की तरफ अपनी लौ लगाता है। अपने आत्मविश्वास पूर्वक अहंकार को खोकर कम से कम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** *******************
अन्याय और अभक्ष्य से परहेज करने लगता है। अपने ही समान इतर प्राणियों को भी मान कर उनकी कीमत करने लगता है ।परन्तु अभी उतना आत्मबल विकसित नहीं हुआ इसलिये अपने उस सत्पथानुसरण में जो लोग भी सहयोग देने वाले होते हैं उन्हें अपने समझता है इस ऐसे जीव को ही आगमभाषा में अव्रत सम्यग्दृष्टि कहते हैं फिर जब आत्मबल प्राप्त हो जाता है तो उनके भी स्नेहबन्धन को हटाकर त्यागी होते हुए वैराग्य को स्वीकार कर लेता है। मतलब यह कि वाह्यबुद्धिगम्य ममत्व को त्याग कर तो त्यागी और अपने अन्तरङ्ग में अस्पष्टरूप से स्फुरायमाण होने वाले कषायभाव को भी मिटाकर वीतरागी बनंता है एवं अभूतार्थ नय से पार होकर भूतार्थनयावलम्बी हो जाने से वहां पर जाकर इस अध्यात्म ग्रन्थ की परिभाषा में सम्यग्दृष्टि सच्चा भला या ज्ञानी बन पाता है। ऐसा श्री समयसार जी के गाथा नम्बर २०-२१ और २२ का मतलब है इसके बाद तात्पर्य वृत्ति के अन्दर जंकुणदि भाव मादा इत्यादि गाथा है जिसका उल्लेख नीचे किया जाता है -

अपने भले बुरे भावों का उपादानता से कर्ता ।
आत्मा कर्मों के बारे में निमित्तपन का है धर्ता ।।
है संसार अवस्था जब तक इसीलिये जीता मरता।
इससे यह उत्तीर्ण बने तो केवल शद्ध भाव भर्ता ।।२१।।

यहां पर आचार्य श्री ने मूल गाथा में बतलाया है कि निश्चयनय की अपेक्षा से तो यह आत्मा अपने भावों का ही कर्ता होता है शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा में तो शुद्ध वीतराग भावों का और अशुद्ध निश्चय नय से शुभ और अशुभ रूप अपने विकार भावों का कर्ता है किन्तु व्यवहार (अनुपचरितासभ्दूत): नय से वही पौद्गलिक कर्मों का भी कर्ता है। जैसा कि जयसेनाचार्य ने तात्पर्य वृत्ति में लिखा है- यंकरोतिरागादि भाव मात्मा स तस्य भावस्य परिणामस्य कर्ता भवति । णिच्छयदो अशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्ध भावानां, शुद्द निश्चयनयेन शुद्धभावानां कर्तेतिभावानां परिणमनमेव कर्तृत्वं । ववहारा अनुषचरिता सभ्दूत व्यवहार नयात् पुग्गल कम्माण पुद्गलद्रव्यकर्मादीना कर्तेति। अब यहां विचार यह कि जिस शुद्धनय का वर्णन पहले गाथा नम्बर चोदह में कर आये हैं वहां तो निर्विकल्प अवस्था होती है कर्ता कौन और कर्म क्या इसका भान भी नहीं रहता हां सहज स्वाभाविक परिणमन जरुर होता रहता है जो कि शब्द के गोचर ही नहीं होता उसका तो विवेचन भी इससे नीचे की अवस्था में अपनी बुद्धि में उसके स्वरूप को लाने के लिये व्यवहार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****
द्वारा ही किया जाता है इसी बात को स्पष्ट करने के लिये जयसेनाचार्य ने भावानां परिणमनमेव कर्तृत्वं यह वाक्य दिया है। अब रही इससे नीचे की बात जहां कि शुद्धोपयोग न होकर अंशुद्धता बनी रहती है और जहां पर कि मैं कर्ता हूँ इस प्रकार का विचार भी होता है ! इस कर्तृकर्मभावरुप अशुद्धनय में उपादान और निमित्त का समन्वेषण रहता है क्योंकि इन दोनों से ही कार्य सम्पन्न होता है। उपादान स्वयं कार्यरुप में परिणमता है और निमित्त उसे परिणमाता है उसके परिणाम में सहायक बनता है वह दो तरह का होता है एक प्रेरक और दूसरा उदासीन। जैसे कि रेलगाड़ी के चलने में गार्डर प्रेरक है किन्तु पटरी उदासीन रूप। अस्तु । कर्तृकर्म भाव में फंसा हुआ प्राणी भी दो प्रकार का होता है एक तो वह जो कि निमित्त को ही कोशा करता है जैसे कि रास्ते चलते चलते अपने पैरों में आये हुए किसी रोड़े से टकराकर गिर गया तो बोलता है कि मैं क्या करुं मुझे तो इस रोड़े ने गिरा दिया इत्यादि किन्तु उसमें अपना कोई दोष स्वीकार नहीं करता ऐसा जीव बिल्कुल पराधीनता को लिये हुए होकर घोर दुःखी बनता है एवं उसके उपर्युक्त विचार का नाम ही व्यवहार नय है । दूसरा वह कि निमित्त होते हुए भी निमित्त पर कोई ख्याल न करके उपादान की तरफ जाता है जैसे ऊपर के उदाहरण में ही वह सोचता है कि यह रोड़ा विचारे का क्या दोष है गलती तो मेरी हुई कि मैं अच्छी तरह देख कर नहीं चला वरना तो मैं बच रहता और चोट न खाता उसका फल यह कि आगे के लिये वह सावधान हो लेता है स्वतन्त्रता की ओर ढलता है एवं ऐसे विचार का नाम ही अशुद्ध निश्चयनय है। यद्यपि इस अशुद्ध निश्चय का अवलम्बी जीव बुराइयों से बचकर भलाई की ओर बढ़ता है किन्तु फिर भी इस नय का अवलम्बन जब तक बना रहता है तब तक कर्तृकर्म भाव के विद्यमान होने से जन्म मरण रुप संसार से नहीं छूट सकता अपितु इससे भी पार होकर निर्विकल्प रुप शुद्ध भाव को अपनाता है तभी संसार का उच्छेद कर पाता है । किन्तु अज्ञानी रागी द्वेषी जीव वहां तक कभी जा ही नहीं पाता वह तो संकल्प विकल्प में ही फंसा रहता है यही आश्चर्य की बात है ।

जड़ यह देह जीव है चेतन दोनों में अत्यन्ता भाव
कहो भला क्या पा सकते हैं क्षीर नीर ज्यों एकी भाव
फिर भी एक कहा करता है इन दोनों को अज्ञानी
अतः सीख देते हैं इसको बार बार सकल ज्ञानी ।।२२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह शरीर जड़ है और आत्मा ज्ञान स्वभाव, दोनों भिन्न-२ चीजें है कभी तीन काल में भी एक दूसरे रूप नहीं हो सकते यद्यपि एक क्षेत्रावगाही हो रहे हैं फिर भी वस्तुतया जुदे जुदे हैं। इस बात के लिए कहीं कहीं स्थूल रीति से क्षीर और नीर का उदाहरण दिया जाता है परन्तु वह भी ठीक नहीं क्योंकि क्षीर और नीर ये दोनों तो एक ही पुद्गल द्रव्य की भिन्न भिन्न पर्याये हैं उन में परस्पर अत्यता भाव न होकर अन्योन्याभाव है अर्थात् दूध के परमाणु परिणमन करते करते कभी जल रूप बन सकते हैं और जल के परमाणु दुधरूप जैसे कि जल का लवण और लवण का वापिस जल हो जाया करता है। शरीर और जीव का ऐसा हाल नहीं है वे तो सदा के लिये अपने अपने रूप में परस्पर भिन्न हैं फिर भी अज्ञानी संसारी जीव इन दोनों को एक माने हुये बैठा है इस भूल को दूर हटाने के लिये ही सर्वज्ञ भगवान इसे बार बार अनेक प्रकार से समझाते हैं कि भाई तू व्यर्थ ही क्यों इस शरीर को अपने रूप या अपना मान रहा है यही गाथा नम्बर २३ से २१५ तक में दिया है तथा नीचे भी बता रहे हैं।

है संयोग विशेष इन्हों का इसीलिए दोनों को एक
कहने का व्यवहार हो गया किन्तु वस्तुतः यहां विवेक।
हो जाता शरीर से न्यारा चेतन ज्यों तिल में से तैल
किन्तु मूढ़ क्या करे भला यह ज्ञानी लोगों का है खेल ॥२३॥

जब शरीर और जीव न्यारा न्यारा ही है तो कान्त्यैव स्त्नपयन्ति ये दंशादिशो धाम्ना निरुन्धन्तिये, धामोद्दाम मनस्विनां जन मनो मुष्णन्ति रूपेणये। दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽम्टतं वन्द्यास्तेऽष्टसहस्त्रलक्षणधरा स्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥ इत्यादि रुप से तीर्थङ्कर सरीखो की भी स्तुति शरीर को ही लेकर क्यों की जाती है इस प्रकार गाथा नम्बर २६ में सवाल उठा कर उस से नीचे की गाथा में उसका जवाब देते हैं कि भाई शरीर और आत्मा का सदा से तिल और तैल की तरह संयोग विशेष हो रहा है अतः व्यवहार में दोनों को एक कहा जाता है किन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न २ हैं हाँ तिल में से तैल को पृथक करना तेली का काम है हरेक आदमी ऐसा नहीं कर सकता उसी प्रकार आत्मा को भी शरीर से रहित कर लेना मोहविहीन विवेकी आत्मा द्वारा हो सकता है मोह माया में फसे हुये राग द्वेषयुक्त जीव के वश की यह बात नहीं है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

यद्यपि मुनिवर भी जिनवर के बदले जिन तनु गाथा का
आश्रय लेते हैं पर फिर भी वह न वास्तविक जिन शाका ।
जिनके गुण अनन्त बोधादिक का स्तव ही जिनका स्तव हो
आश्रयाश्रयित्वेन भले ही पहले को जिन भजन कहो ॥२४॥

सर्वसाधारण ही नहीं। निर्मोह मार्ग पर चलने वाले मुनि लोग भी जिन भगवान के स्तवन में उनके शरीर के गुणो का गान करते हुये देखे जाते हैं परन्तु वह भगवान की सच्ची स्तुति नहीं है। भगवान जिनेन्द्र उस शरीर में विद्यमान होते हैं वह उनका आश्रय है इसलिए आधाराधेय भाव को लेकर उसे भगवान का भजन कहा जावे यह दूसरी बात है। उनका ठीक ठीक स्तवन तो उनके अनन्त ज्ञानादि गुणों का वर्णन करने से ही होगा। मतलब यह कि केवली के शरीर का वर्णन करना सो व्यवहारनय से केवली का वर्णन ही हो जाता है क्योंकि व्यवहारनय से शरीर और आत्मा को एक माना गया है – ववहारणओं भासदि जीवों देहोय हवदिखलुइको ऐसा श्री समयसार जी में खुद कुन्द कुन्द स्वामी कहते हैं। अतः शरीर और आत्मा को एक कहना व्यवहार नहीं किन्तु दुर्व्यवहार है कुनय है घोरामिथ्यात्व है ऐसा कहने वाले लोग तो स्वामी कुन्द कुन्द को भी उल्लंघन कर जाते हैं। व्यवहारनय संयोगसम्बन्ध का वर्णन करने वाला है, व्यवहारनय से आत्मा और देह एक है इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर और आत्मा में संयोग सम्बन्ध है सो ऐसा कहना ठीक ही है । अब जो लोग इसे दुर्व्यवहार या कुनय कह कर गलत बताते हैं उनके कहने का तो यह अर्थ हो जाता है कि शरीर का आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध भी नहीं है सो इस कहने को कोई भी समझदार नहीं मान सकता क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष सिद्ध है निर्विवाद है उसको इन्कार करना तो निरामूर्खपन है। हाँ शरीर और आत्मा में तादात्म्य मानना, वस्तुतः एक समझना, निश्चयनय से भी एक ही कहते रहना जरूर भूल है जैसा कि श्री कुन्द कुन्द स्वामी ने कहा है और ऐसा ही इतर प्रामाणिक जैनाचार्यो ने भी माना है उसको ध्यान में न लेकर अगर कोई अपनी तरफ से अण्ट सण्ट कहे तो कहा करो।

कभी कभी हम राजा के पुरकी महिमा सुनि राजा की
तदधिष्ठातृ भाव से उसको मानि बैठते है बाकी।
क्या है वह राजा का वर्णन वैसे ही जिन तनु गाथा
सुन करके ही हम सबका झुक जाया करता है माथा ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक आदमी कहने लगा कि राजा शूर सिंह के नगर समरस्थान की क्या बात पूछते हो वह कोट खाई वगैरह से युक्त है जन धन परिपूर्ण बहुत ही विशाल है उसमें कोई अन्यायी या पापी नहीं है इस पर से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि जब उस राजा का गांव ही ऐसा है तो फिर खुद राजा की तो बात ही क्या वह तो प्रतापी होना चाहिए। बस इसी प्रकार जिन भगवान के बदले उनके शरीर का वर्णन किया जाता है।

गाथा नम्बर ३०

इन्द्रिय विजयी होकर बोधात्मक निजात्म का ध्यान करे
वह जिन ऐसा कह कर उनका साधु सदा सम्मान करे।
इसी तरह मोहादिजयी होना जिनजी का बाना है
जिसे याद कर भक्तजनो का निज सरूप पर आना है ॥२६॥

जयतीतिजिनः अर्थात् जो अपनी इन्द्रियों का दमन कर ज्ञायक स्वभाव अपनी आत्मा का अनुभव करने में तत्पर हो वह जिन होता है ऐसा साधु लोग कहते हैं जो कि अपनी आत्मा को साधा करते हैं। अथवा जो मोह को जीतकर दबाकर निजात्मानुभवन में संलग्न हो वह जिन है यह उपशान्त मोह वाले की अपेक्षा से कथन है। एवं अपने आत्मानुभवन के द्वारा जिसने मोह को बिलकुल नष्ट कर दिया हो वही जिन होता है यह क्षीण मोह अवस्था को लेकर कहा गया है। इस प्रकार स्वामी कुन्द कुन्द ने गाथा नम्बर ३१, ३२, ३३ में जिन शब्द का स्पष्टीकरण तीन तरह किया है एवं आत्मगुणों का विकाश और रागादि का नाश प्रगट होता हो ऐसा और भी कहा जा सकता है जो कि भगवान् का सच्चा स्तवन कहा जाता है। शरीर तो इस आत्माराम से भिन्न है और धन मकान वगैरह एवं रागद्वेष मोह वगैरह भी इस शरीर की साथ है अतः

वाह्य वस्तु तजि रागादि रहित होता हुआ जीव शम से।
शुद्धात्मानुभवन में रत हो लेता निजसम्वेदन से ॥
परमसमाधि समय में वह हीं निश्चय प्रत्याख्यान बने।
जानलिया पर जब फिर उसको वह ही क्यों नहि दूरठने ॥२७॥

इसलिये समझदार मनुष्य को चाहिये कि जमीन मकान वगैरह जो स्पष्ट ही भिन्न है, जो छोड़ी जा सकती है,जिनको कि आत्मा ने अपने विचार द्वारा ही पकड़ रखी हैं, उन्हें तो छोड़ ही देवे, साथ में इस शरीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से भी ममत्व रहित होकर शत्रु मित्र इत्यादि में समभाव धारण करते हुए उसके बल से रागद्वेष को मिटाकर निर्द्वन्द्व होते हुए स्वसम्वेदन ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा के ध्यान में तल्लीन बने तभी वास्तविक प्रत्याख्यान होगा और तभी इसका सच्चा हित हो पावेगा पर वस्तुओं को अपनाये रहना कौनसी होशियारी है। दूसरे की चीज को ग्रहण करने वाला तो चोर होता है दुःख पाता है जान बूझकर भी कष्ट कौन मोल लेगा।

योंसमझाने से जब समझे विस्मृत निज निधि पाने से।
धनी हुए की भांति सुखी हो आत्म बोध आजाने से ॥
मैं हूं शुद्ध बुद्ध एकाकी नहीं और कुछ मेरा है।
सदा अरुपी हूं चिद्रूपी यों विचार का डेरा है ॥२८॥

इस प्रकार आचार्य महाराज के समझाने से जब समझ में आ जावे तो यह जीव अपनी भूली हुई धरोहर को प्राप्त हो जाने की भांति अपने आप को पहिचान कर परम सुखी और शान्त बनता है विचारता है कि मैं तो शुद्ध बुद्ध हूँ अरूपी हूँ मेरे में रूप रस गन्धादि बिल्कुल नहीं है। चित्स्वरुप एकाकी अकिञ्चन हूँ इन दुनियादारी की चीजों में मेरा एक परमाणु भी नहीं है।

यों विवेक का हो उदय होवे आत्म सुधार।
देर नहीं कुछ भी लगे मिट कर सकल विकार ॥२९॥

इस प्रकार ज्ञानभूषण (पं.भूरामल) जी महाराज के बनाये हुए विवेकोदय समयसार में यह पहिला अधिकार समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथाजीवाधिकार

आठ काठ से खाट की तरह पञ्च भूत से जीव बना
तथा बुद बुद के ज्यों जल में इस शरीर में दिपे घना ।
इसी तरह की कई कल्पना बनी जीव के बारे में
जिन की गणना नहीं अहो इस महाबीर के आरे में ॥३०॥

दो ईश दो सेरु और चार पाये इन आठ काठों के मिलने से एक भिन्न ही प्रकार की चीज खाट तैयार हों जाती है उसी प्रकार पृथ्वी जल अग्नि वायु और आकाश इन पञ्च भूतों के संयोग विशेष से जीव नाम का पदार्थ बना है जोकि इस तुम्हारे हमारे शरीर में अपना ठाठ दिखला रहा है जल में जो बुलबला उठता है वह जल से कोई भिन्न नहीं होता उसी में विलीन हो जाता है वैसे ही पञ्च भूतों से जीव बना है जोकि अन्त में इन्हीं में मिल जावेगा। इसी तरह की नाना कल्पना आत्मतत्व के बारे में इन अज्ञानी संसारी लोगों की अपनी मनमानी होती रहती हैं जिनको लेकर इस कलिकाल में तो इतने मत खड़े हो रहे हैं जिन का सुमार करना भी हम सरीखों की बुद्धि से बाहर की बात है ।

क्योंकि शरीरादि के साथ में अन्वय या व्यतिरेक बने
नहीं ज्ञानका ताकि इसे उसका कहने को चित्तसने ।
इसी ज्ञानगुण के धारक को जीव वीर ने बतलाया
प्रति शरीर है भिन्न २ रूपादि रहित उसकी छाया ॥३१॥

किन्तु थोड़ा सा भी विचार करने पर उपर्युक्त कल्पना झूठी प्रतीत होती है क्योंकि इस पञ्चभूतात्मक शरीर के साथ में इसके अन्दर में विद्यमान ज्ञान गुण का अन्वय व्यतिरेक घटित नहीं होता। जो जिसके होने पर हो और न होने पर न हो एवं जो जिसकी वृद्धि में बढ़ें तथा हानि में घटे उसका उसके साथ अन्वय व्यतिरेक होता है । अब हम देखते हैं कि एक आदमी का शरीर दिन पर दिन दुबला पतला एवं हलका होता जाता है और ज्ञान बढ़ता रहता है। दूसरे का शरीर स्थूल मोटा ताजा बनता जाता और बढ़ता जाता है किन्तु ज्ञान उसका घटता हुआ दीखता है इसलिए ज्ञान का शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । वह ज्ञान जिसका गुण है वही जीव नाम का पदार्थ है जोकि नित्य और इन भूतों से पृथक है क्योंकि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ************************

इन पञ्च भूतों में होने वाले रूप रसादि से वह बिल्कुल रहित है। जोकि शरीर २ में भिन्न भिन्न होता है इस बात को जैन न्याय ग्रन्थों में अच्छी तरह सिद्ध किया गया है।

आठ काठ की खाट परपुरुष आकर लेट लगाता है
यदृच्छया घोसला बना कर विहग बसेरा पाता है
वैसे ही इस जड़ शरीर में चेतन ने विश्राम लिया
ज्यों चूने पत्थर के घर में दिपे भासुराकार दिया ॥३२॥

काठ और रस्सी वगैरह से बनी हुई खाट एक भिन्न चीज है और उस पर लेट लगाने वाला सोने वाला आदमी भिन्न। एक पक्षी अपने रहने के लिए जिस प्रकार घौंसला बनाता है और उसमें अपनी इच्छानुसार कुछ दिन रहता है फिर उड़ जाता है वैसे ही हमारे इस शरीर में हमारी आत्मा है। जैसे चूने और पत्थर वगैरह से बसे हुये घर में उजाला करने वाला दीपक होता है वैसे ही हड्डी मांसादि से बने हुए इस शरीर में ज्ञानमयआत्मा है। यह श्री समयसार जी के गाथा नं. ३९ से ४४ तक का मतलब है।

जोकि वाह्य वस्तूपयोग से अपना फल दिखलाते हैं
कर्म ज्ञानावरणादिक तो जड़ यों जिन बतलाते हैं.
उस विपाक से आकुलतामय राग रोष जो चेतन में
होते हैं इसके स्वभाव वे नहीं यही आती मन में ॥३३॥

ऊपर लिखे अनुसार समझाने से शरीर को आत्मा से भिन्न मानकर भी अब यह वासना और बाकी रह जाती है कि आत्मा में जो रागद्वेष मद मात्सर्यादि होते हैं वे तो आत्मा के स्वभाव ही हैं कि नहीं। इस पर सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि हे भाई वे सब इस आत्मा के उपार्जन किए हुये कर्मों का फल है। कर्म भी जड़ हैं जोकि वाह्य पदार्थों के सम्बन्ध से अपना फल दिखलाते हैं उनका जब विपाकोदय होता है तो वह आत्मा के निराकुलत्व लक्षण वाले आनन्द गुण को बिगाड़ कर आत्मा में अकुलता पैदा कर देते हैं उसी का रागद्वेषादि रूप में पसारा है। मतलब यह कि वे सब भी आत्मा के सहज रूप से होने वाले स्वभाव नहीं है किन्तु कर्मोदय के निमित्त से होने वाले विभाव हैं जैसे कि अग्नि के निमित्त से होने वाली जल की उष्णता। अतः अगर यह आत्मा उन कर्मों को दूर कर दे उन्हें अपने उपयोग में न ग्रहण करे तो रागादिक भाव जोकि दुःख रुप हैं वे सब भी न हो। आत्मा स्वतन्त्र बन जावे कर्मों के निमित्त से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ****************************
आत्मा परतन्त्र हो रहा है ऐसा समयसार कार श्री कुन्दकुन्दाचार्य का कहना है जो लोग अपने आपको कुन्द कुन्द का मान कर यह कहते हैं कि निमित्त कुछ नहीं करता वे महाशय "जस्सफलं तं वुच्चई दुक्खंति विपच्चमाणस्स" इस समयसार जी के पैंतालीसवें नम्बर की गाथा के उत्तरार्द्ध का क्या अर्थ लेते हैं सो वे ही जाने आचार्य महाराज तो स्पष्ट कह रहे हैं कि विपच्यमान कर्म का फल ही आत्मा को दुःख होता है। हाँ जो लोग उन रागादिक विभावों को एकान्तरूप से कर्मकृत ही मानते हैं अतः उनको दमन करने के लिए कुछ भी आत्म पुरुषार्थ नहीं करते वे भी गलती पर हैं -

साधकता में रागादिक को जीवभाव है बतलाया,
वरना त्रसथावर की हिंसा से बचने को क्यों गाया।
क्योंकि देह से भिन्न जीव तो कैसा वध या पाप कहां,
वृथा मुक्ति के लिए यत्न फिर रहा, नहीं हो शाप जहां ॥३९॥

क्योंकि रागादिक सब जीव के ही भाव हैं जीव ही इनको करता है अगर यह न करे तो वे सब क्यों होवे कभी नहीं हो परन्तु जब तक यह जीव साधक अवस्था में है उन्हें करता ही रहता है और जैसा शुभ या अशुभ भाव करता है वैसा ही उसका फल भी पाता ही रहता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि अपने प्रयत्न पूर्वक यह हिंसा असत्यादि पापरूप अशुभ भावों से हटकर अहिंसा सत्यादि शुभभाव रूप प्रवृत्ति करे और शुभ से शुभतर पर, उससे भी शुभतम भाव पर आवे एवं अन्त में अपने पुरुषार्थ से शुद्धता को प्राप्त करे ऐसा भगवान का कहना है जैसा कि जीवाएदेसव्वे अज्झवसाणादवो भावा ॥४६॥ इस समयसार जी के वाक्य से स्पष्ट है।

शङ्का - यह जो आपने उपर बतलाया है वह तो व्यवहारनय का कथन है जैसा कि इसी गाथा के ववहारस्सदरीसणमुवयेसो वण्णिदोजिणवरेहिं इस पूर्वार्ध में लिखा हुआ है। व्यवहारनय तो अभूतार्थ है झूठा है।

उत्तर - भैया जी अभूतार्थ का मतलब तो वस्तु के परनिमित्त से होने वाले धर्म का विषय करना है अगर अभूतार्थ का मतलब झूठा लगाकर व्यवहारनय को बिल्कुल भुला दिया जाय, बेकार ही मान लिया जाय तब तो फिर त्रसस्थावर की हिंसा से बचने की कोई जरुरत ही न रहे क्योंकि निश्चनय में तो आत्मा शरीर से भिन्न है उसका तो कभी मरण होता ही नहीं, शरीर के भ्रष्ट होने में कोई हानि नहीं जैसे भस्म को कुचल दिया वैसे ही किसी जीव के शरीर को भी कुचल दिया गया तो कोई पाप
Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** *********************

बन्ध नहीं और जब कि बन्ध ही नहीं तो उससे छूटने के लिए प्रयास कैसा। एच निश्चयनय से तो जबकि जीवरागादि रहित शुद्ध है ही फिर मुक्ति के लिए उपदेश भी बेकार ही है जैसाकि आत्मख्याति में भी लिखा है - यवहारोहिव्यवहारिणां,म्लेछभाषेवम्लेच्छानां, परमार्थ प्रतिपादकत्वाद परमार्थोऽपितीर्थ प्रवृत्तिनिमित्तदर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतोभेददर्शनात् त्रसस्थावराणां निःशङ्कमुयमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्त्वेवबन्धाभावस्तथा रक्तद्विष्ट- विमूढोजीवोवध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतोभेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहाभावात् भवत्येवमोक्षस्या भावः। अगर कहा जाय कि उपदेश तो निश्चय शुद्ध स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए होता है तो इसका भी जवाब यह है कि निश्चयनय की दृष्टि में अज्ञान है ही कहां अतः व्यवहार की जगह व्यवहार को भी ठीक मानना ही होगा और तब फिर राग द्वेष वगैरह जीव के ही भाव हैं ऐसा भी कहना ही होगा हाँ वे सब जीव के भाव होकर भी जीव से कथञ्चिद् भिन्न हैं यही नीचे बता रहे हैं -

पांच कोश में आज वहां पर उस राजा का डेरा है,
यों वोला जाकर भी वह उसकी सेना का घेरा है।
वैसे ही फैलाव जीव का रागादिकमय माना है,
काले नाग बिना कञ्चुक का और ठोर क्या पाना है ॥३५॥

जब कोई राजा सेना वगैरह अपने लवाजमें को लेकर निकलता है और आकर कहीं पडाव होता है तो कहा जाता है कि आज वहां पर तो पांच कोश में राजा ही राजा पसरा हुआ है ऐसा कहने पर भी राजा तो अपने योग्य एक दो हाथ जमीन पर ही है शेष क्षेत्र पर तो उसकी सेना पड़ी हुई होती है जोकि राजा के साथ में है। उसी प्रकार जीव तो असल में ज्ञानमय परमोदास रूपहै रागादिक तो कर्मों के निमित्त से होने वाले उसके संयोगजभाव है जोकि जीव को छोड़ कर अन्यत्र नहीं पाये जाते परन्तु वे उसमें सर्वत्र सर्वदा ही हो ऐसा नहीं माना जा सकता जैसे कि कांचली काले सॉप पर ही होती है फिर भी वह सदा नहीं होती वैसे ही शुद्द दशा में जीव के भी रागादि भाव नहीं होते। वह शुद्धात्मा कैसा होता है सो नीचे बताते हैं -

रूपादिक से रहित अतीन्द्रिय चेतनता को लिये हुए,
अव्यक्त न कम्पनादि मानसविकार को भी छुवे हुए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निराकार निश्शब्द न जिस में किसी लिङ्ग का गोता है,
आत्माराम हमारा निज सम्वेदनगोचर होता है ॥३६॥

हमारी आत्मा का शुद्ध स्वरूप इस प्रकार है कि जिसमें न तो कोई रूप है न रस, न गन्ध और न स्पर्श ही। अतएव वह अतीन्द्रिय है स्पर्शनादि किसी भी इन्द्रिय द्वारा वह नहीं ग्रहण किया जाता। चेतना गुणमय है अर्थात् सिर्फ देखने जानने वाला है। अव्यक्त है अस्मदादि संसारी लोगों के ज्ञान में नहीं आने वाला है। जिस में डरना-डराना, घमंड करना इत्यादि सब मानसिक विकारों का भी सद्भाव नहीं होता। निराकार है जिसका गोल, चकोर, तिकोर वगैरह कोई भी आकार निश्चित नहीं है। निःशब्द है जोकि न तो स्वयं किसी प्रकार का भी शब्द करता है और न जिसको कोई भी शब्द छूने ही पाता है। अतः किसी भी लिंग के द्वारा उसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। अर्थात् किसी चेष्टा विशेषादि के द्वारा हम सब उस की सत्ता सिद्ध कर पावें यह बात दूसरी है परन्तु वह ऐसा है यह किसी भी लिङ्ग से नहीं बताया जा सकता। हां अपने आप के अनुभव में जरूर आ सकता है जोकि परम समाधि के समय में होता है। उस आत्मा का नाम ही राम है रमन्ते योगिनो यस्मिन् सरामः अर्थात् उस शुद्धात्मा को अनुभव में लाना उन योगि लोगों की ही वश की बात है जिन्होंने कि अपनी इन्द्रियों को और मन को पूरी तौर पर काबू में कर लिया हो।

शङ्का - आपने कहा कि उस आत्मा का अनुभव योगियों को ही होता है तो क्या फिर हम लोगों को उसका किसी काल में भी किसी तरह से अनुभव नहीं ही होता है ?

उत्तर - हम लोगों को अगर होता भी है तो अपनी आत्मा का रागद्वेषादिमय अशुद्ध सम्वेदन होता है शुद्ध आत्मा का नहीं। जैसे कि एक ग्राहक रंगरेज के यहां से रंगा हुआ कपड़ा मोल लाया तो वह तो उसे जैसा कि वह काला या पीला है वैसा ही देखता है वह उसकी सफेदी को क्या जाने उसी प्रकार वाह्य पदार्थों के व्यामोह में फंसे हुए हम लोगों को भी शुद्धात्म सम्वेदन कभी नहीं हो सकता उसके लिए योगिता की जरूरत है जैसा कि इसी नं. ४९ की गाथा की टीका में जयसेनाचार्य जी ने भी लिखा है देखो - शुद्धनिश्चयनयेन सर्वपद्गलद्रव्य सम्बन्धि वर्णादिगुणशब्दादिपर्यायरहितः सर्वद्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय मनोगत रागादि विकल्पाविषयोधर्माधर्माकाशकालद्रव्यशेष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

जीवान्तरभिन्नोऽनन्तज्ञानदर्शन सुखवीर्यश्चयः स एव शुद्धात्मा समस्त पदार्थ सर्वदेश सर्वकाल ब्राह्मणक्षत्रियादि नानावर्ण भेद भिन्नजनसमस्त मनोवचनकाय व्यापारेषु दुर्लभः सएवापूर्वः सचैवोपादेय इति मत्वानिर्विकल्पनिर्मोहनिरञ्जन निजशुद्धात्मसमाधि सञ्जातसुखामृतरसानुभूतिलक्षणो गिरिगुहागह्वरेस्थित्वा सर्वतात्पर्येणव्यातव्य इति। अस्तु । अगर वर्ण वगैरह या गुण स्थान वगैरह जीव के भाव नहीं हैं तो फिर सिद्धान्त ग्रन्थों में जो इनको जीव के कहा गया है सो कैसा, इसका जवाब -

वर्णादिगुणस्थानान्तिम जो भाव समय में बतलाये,
नहीं जीव के निश्चय से व्यवहार मात्र से हैं गाये।
क्षीर नीर की तरह जीव के साथ मेल इनका नादि,
किन्तु तदात्मरुप से है उपयोग भाव की वह गादी ॥३७॥

वर्णादिगुणस्थान पर्यन्त भाव जिनका कि वर्णन समयसार जी की गाथा नम्बर ५० से ५५ तक में किया हुआ है वे सब निश्चयनय की अपेक्षा में जीव के नहीं है, व्यवहारनय को लेकर ही वे जीव के माने गये हैं। मतलब यह कि इस संसारी आत्मा के साथ में उन सबका अनादिकाल से क्षीर नीर की भान्ति सम्बन्ध विशेष हो रहा है। किन्तु जीव का आत्मभूत लक्षण तो उपयोग अर्थात् देखना, जानना ही है। गाथा नं. ५६ से ५७ का यह भाव है। अब व्यवहार कैसे होता है सो बताते हैं -

पथ को लुटता कहे पथिक को लुटता सुन करके जैसे,
कर्मभाव को जीवभाव बतलाया जाता है वैसे।
स्थूल दृष्टि से छद्मस्थों के लिये जिनेश्वर वाणी में,
फिर भी तिल से तैल जुदा होता विवेक की वाणी में ॥३८॥

अर्थात् - जिस रास्ते में होकर जाने वाले मुसाफिर लुटते रहते हैं तो हम लोग कह दिया करते हैं कि उस रास्ते से जाना ठीक नहीं वह रास्ता तो लुट रहा है। बस इसी प्रकार जिनागम में भी सर्व साधारण के लिए स्थूल दृष्टि को लेकर जीव और कर्मों का संयोग होने से दोनों को एकमेक मान कर कर्मों के परिणमन को जीव का परिणमन कह दिया है परन्तु जब सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे तो वर्णादिक जीव के परिणाम नहीं है अपितु तिल से जैसे तैल भिन्न होता है वैसे ही आत्मा भी उन से भिन्न है क्योंकि -

संसारस्थदशा में हो वर्णादियुक्त यह चेतन भी,
मुक्तदशा होने पर इसमें वे होते हैं नहीं कभी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

जिनका है तादात्म्य भाव पुद्गल से सुन लो हे भाई,
वरना पुद्गल और जीव में अन्य कहो कौन जुदाई ।।३९।।

संसार से मुक्त होने पर जीव में रसादि का लेश भी नहीं रहता, हां जब तक कि यह संसारापन्न है तब तक वर्णादियुक्त होकर मूर्तिक बन रहा है ताकि इस के साथ कर्मों का सम्बन्ध लगा हुआ है । अगर इस समय भी इसको वर्णादियुक्त न कह कर अमूर्तिक ही कहा जाय तो अमूर्तिक का मूर्तिक कर्मों से सम्बन्ध बन नहीं सकता । आसमान को रस्सी से बांधा जा सकता है क्या? कभी नहीं । बस तो फिर आत्मा जब इस पौद्गलिक शरीर में जकड़ा हुआ है, अमूर्तिक कैसे कहा जा सकता है मूर्तिक ही है जैसा कि ववहारामुत्तिबन्धादो इस द्रव्य संग्रह के वाक्य से स्पष्ट है एवं यही बात तत्थभवेजीवाणं संसारत्थाण होन्तिवण्णादि। इस प्रकार समयसार जी की गाथा नं. ६१ के पूर्वार्ध में श्री कुन्द कुन्दाचार्य भी लिख गये है । परन्तु उन वर्णादि का जीव के साथ संयोग है, तादात्म्य नहीं, तादात्म्य तद्रूप सम्बन्ध तो उनका पुद्गल द्रव्य के साथ है जोकि कभी हटाया नहीं हट सकता । यही जीव और पदुगल में परस्पर भेद है नहीं तो फिर दोनों एक ही बन जावें सो है नहीं । गाथा नं. ६४ तक इस प्रकार वर्णादि को बता कर अब जीव समास और गुण स्थान वगैरह जीव के किस तरह से हैं सो बताते हैं –

एकेन्द्रियादि नाम जीव के नाम कर्म के निमित्त से,
गुणस्थान भी मोहकर्म को लेकर होवे जीव विषे।
अतः शुद्धनय से न जीव के हो सकते हैं वे सब भी,
मतलब यह कि पार इनसे होगा होगा वह शुद्ध तभी ।।४०।।

एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिक वगैरह नाम इस जीव के नाम कर्म से होने वाले औदयिक भाव हैं । और गुणस्थान, मोहकर्म के उदय उपशम क्षय क्षयोपशम वगैरह से होने वाले भाव हैं अतः ये सब शुद्धनय की दृष्टि से जीव में नहीं होते जब इन सब वबालों से दूर होगा तभी शुद्ध अर्थात् सिद्ध कहलाने का हकदार बनेगा।

ऐसे जीवाजीव को भेदज्ञान से चीर ।
केवल आत्माधीन हो व्रही विश्व में वीर ।।४१।।

इस प्रकार ज्ञानभूषण (पं. भूरामल) रचित विवेकोदय का अजीव नाम का अधिकार पूर्ण हुआ।

❀ ❀ ❀

Ganesh Varṇi Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

' अथ कर्तृकर्माधिकार '

उदासीनता से हट कर जो इष्टानिष्ट विकल्प धरे,
वह ही कर्ता कहलाता है उसके मन में जो उघरे।
किये हुये की भांति रागरोपादि वही है उसका कर्म,
क्योंकि उसी उलझन में पड़कर मिट जाता है उसका शर्म ।।४२।।

यहां जो कि यह संसारी आत्मा सहजोदासीनता रूप ज्ञान भाव को छोड़ करके इष्टानिष्ट कल्पनारूप अज्ञान भाव में प्रवृत्त होता है या हो रहा है वही कर्ता कहलाता है। और ज्ञानभाव के व्यापार (सहजोदासीनता) से भिन्न अपितु किये गये हुये के रूप में प्रगट होता हुआ दीखता है – वह क्रोधादिकषायभाव ही उस आत्मा का कर्म है। जैसा कि आत्मख्याति में तदत्रयोऽयमात्मास्वयमज्ञानभवनेज्ञानभवनमात्र सहजोदासीनावस्थात्यागेनव्याप्रियमाणः प्रतिभातिसकर्ता। य त्तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नंक्रियमाणत्वेनान्तरुत्प्लवमानंप्रतिभातिक्रोधादितत्कर्म एवमियमनादिजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिः । मतलब यही कि जीव और रागादि में कर्ताकर्मपना अनादि से बना हुआ है । रागादि भाव तो कर्म अर्थात कार्य हैं और संकल्पविकल्प वाला जीव उनका करने वाला होता है। सो यह कर्तृकर्मभाव हीनाधिकरूप में बारहवें गुणस्थान के प्रारम्भ तक बना ही रहता है एक समय मात्र के लिए भी नहीं मिटता ।

यह अनिष्ट इस से हट करके इस अभीष्ट को अपनाना,
यों संकल्पविकल्पभाव में तन्मय होकर मनमाना ।
प्रक्रम रचता है अनुरक्त विरक्तभाव लेकर नाना,
इसीलिए इस दुनियां में इसको पड़ता है दुख पाना ।।४३।।

यह मेरा है और यह पराया इस प्रकार का वाह्यपदार्थों के बारे में जो विचार आता है उसका नाम संकल्प है। तथा उन में यह भला है और यह बुरा इस प्रकार की मानसिक वृत्ति का नाम विकल्प है। इन संकल्प विकल्पों में फंस कर तत्परता के साथ अनुरक्त विरक्त होता हुआ जो नाना तरह की चेष्टा करता है बस यही इस जीव के लिए इस दुनियां में दुख पाते रहने का कारण है ! गाथा नं. ७०।।

यदि इनको आगन्तु समझले तो फिर दूर हटा करके,
सहजसमरसीभाव मगन हो जावे बन्ध मिटा करके।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसीलिए बोला जाता है हेतु सिद्धि का भेद ज्ञान,
परसे भी नर दूर न होवे तो वह वस्तुतया अज्ञान ।।४४।।

जबकि यह संसारी जीव अपने आप में और क्रोधादि आश्रव भावों में विशेषरूप से भेद प्राप्त कर लेता है अर्थात् ज्ञान ही मेरा सहजस्वभाव है ये क्रोध वगैरह तो परनिमित्त से होने वाले आगन्तुक भाव हैं । कल्पना से माने हुए शत्रु मित्र के समागम में उन्हें निमित्त मान कर आत्मा में रोष और तोषभाव जागृत होते हैं और उस समय ज्ञान लुप्तप्राय हो जाता है किन्तु उपर्युक्त उस वाह्यसमागम के दूर होने पर या यों कहो कि उसे न स्वीकार करने पर आत्मा में रागद्वेष न होकर सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान रहता है। एवं ज्ञान आत्मा को निराकुल बनाये रखने वाला सहजभाव, किन्तु रागद्वेष वगैरह आत्मा को आकुलित करने वाले आगन्तुक भाव हैं ऐसा जब जान पाता है तो उनको मिटाकर सिर्फ अपनी आत्मा में लीन हो रहता है तब फिर इसके बन्ध नहीं होता।

जहां जान पाया कि कषायें दुखदायी घिनकारी है,
मेरे आत्मरूप से उलटी यों मेरे से न्यारी है।
क्यों फिर कहो करेगा इनको जब कि आपही कर्ता है,
जानबूझ क्यों पड़े गर्त में सुखसम्पत् का भर्ता है ।।४५।।

जो लोग समझते हैं कि चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव यह जानते हुए भी कि रागद्वेष मेरे भाव नहीं हैं, कर्म के उदय के वश होकर अपने देशकालादियोग्य इष्टानिष्टविकल्प में पड़ कर रागद्वेष करता ही है इत्यादि उन लोगों के ही कहने का जवाब यहां दिया गया है कि भाई उसकी उस जानकारी में कचाई है अन्यथा तो जब उसने उन्हें अपने लिये नुकसानकारक जान लिया तो उन्हें क्यों करेगा। कर्म कोई वरजोरी से तो रागद्वेष करवाते ही नहीं है।अगर रागद्वेष के होने में भी कर्मों की वरजोरी ही मान ली जावे तब तो फिर कोई भी मुक्त हो ही नहीं सकता। अपितु चतुर्थगुणस्थान वाले को जो भेद ज्ञान है वह गुरुमुखी होता है स्वमुखी नहीं इसीलिए उसके सम्यक्त्व को अनवगाढ सम्यक्त्व कहा गया है । जब आत्मोन्मुखी विचार द्वारा दृढ़ता पूर्वक इस बात को स्वीकार कर लेता है उस समय अर्थात् शुक्लध्यानरूप परम समाधि के काल में उन आश्रव भावों से रहित होकर बन्धहीन हो ही जाता है ताकि बारहवें गुणस्थान में उसका अवगाढ सम्यक्त्व हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

********** **************************

दासोऽहं की तरह जहां पर सोऽहं से भी हट करके,
अहं मात्र सम्वेद्य एक शुद्धात्मतत्व पर डट करके।
उदासीनता अपनाने से इष्टानिष्टविकल्प गया,
तब फिर कैसा आश्रव होकर कैसे होवे बन्ध नया ॥४६॥

अर्थात् एक मिथ्यादृष्टि जीव के कर्म, आसन्नभव्यता की वजह से कुछ हलके पड़ जाते हैं तो वह अपने आत्महित का मार्ग प्राप्त करने के लिए सद्गुरुओं के सहवास को अपनाता है और वे जो भी कुछ उपदेश देते हैं उसको उत्कण्ठा पूर्वक सुन कर उस पर हृदय से विश्वास लाता है। एवं कृतज्ञ भाव से उन्हें अपने द्वारा पूज्य मान कर अपने आपको उनका सेवक स्वीकार करता है इस प्रकार सरागसम्यग्दृष्टि बनता है सिर्फ पाप वासनाओं से मुक्त होता है। इसके बाद वाह्यपदार्थों से दूर हटकर जब ध्याननिमग्न होता है तो वहां पर प्रारम्भ में वह जैसी आत्मा गुरुदेव की है वैसी ही मेरी है इस प्रकार के विचार से उस पूज्य पूजक भाव रूप पुण्य वासना को भी कम करते हुए आगे बढ़ने की कोशिश करता है। अन्त में सब तरह के इष्टानिष्ट विकल्पों को मिटाकर अहंमात्रप्रत्ययगम्य सिर्फ अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव में मग्न होते हुए शुक्लध्यान रूप परम समाधि धारण कर लेता है उस समय उसके वीतराग सम्यग्दृष्टिपने की वजह से स्पष्ट भेद ज्ञान के द्वारा नूतन कर्मों का बन्ध होना बिल्कुल रुक जाता है। यहां पर इतना और भी समझ लेना चाहिये कि शास्त्रकारों ने चतुर्थगुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक में गौण या मुख्यरूप में भेद ज्ञान शब्द का व्यवहार किया है वहां भेदस्यजीवाजीवयोर्मिथोऽन्तरस्ययज् ज्ञानंअनुमननंतद्भेदज्ञानं अर्थात जीव और अजीव में जो परस्पर स्वरूप भेद है उसको जानना उसका नाम भेद ज्ञान है ऐसा अर्थ तो चतुर्थगुणस्थान वगैरह में लेना और भेदात्यज्ज्ञानं इतर पदार्थेभ्योयत्पृथक्भूयत्मनोऽनुभवनंतद्भेदज्ञान अर्थात इतर सब पदार्थों पर से हट कर अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव में मग्न होना सो भेदज्ञान ऐसा अर्थ शुक्लध्यान के समय में लेना चाहिए। अस्तु।

तरु में जतु की तरह वध्य घातक होने से,
अपस्मार की भांति प्रगट होलय जोने से।
काम वेग ज्यों अन्त विरसता को ढोने से,
रागरोष परिणाम जीव में किस कौने से ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

आये ऐसे जानकर इनको दुख के हेतु,
झटपट होता दूर है इनसे यह गुण केतु ॥४७॥

पीपल के पेड़ पर जो लाख आ जाया करती है वह यद्यपि उसका विकार रुप होती है, उसके पैदा होने पर फिर वह पेड़ पनपने नहीं पाता उसी प्रकार रागद्वेषभाव भी यद्यपि जीव के ही विभाव परिणाम हैं फिर भी इनके रहते हुए यह जीव अपनी समुन्नति नहीं कर पाता किन्तु कमजोर बनता है क्योंकि ये इसके सहजभाव नही हैं किन्तु विरुद्ध स्वभाव हैं। आत्मा एक ध्रुव रूप है परन्तु ये प्रगट होकर नष्ट होते रहते हैं जैसे कि मृगी रोग का दौरा आता है। वह कुछ देर रहकर फिर निवृत्त हो जाया करता है। आत्मा सहजानन्दरूप है किन्तु ये रागादिभाव आत्मा में प्रगट होते समय, इस अज्ञानी जीव को भले ही उपयोगी प्रतीत हों अपितु अन्त में इसे हताश ही होना पड़ता है । जब काम का वेग इसे सताता है तो वैसा ही करने के लिए वाध्य होता है, उसमें आनन्द भी मानता है किन्तु जहां वीर्य स्खलित हुआ तो माथा ठोकने लगता है। अतः ये इस आत्मा के लिए अशरण रुप हैं, आत्मा सदा स्वशरण है क्योंकि ये सब आत्मा में आकुलता उपजाने वाले होने से स्वयं दुःखरूप वा दुःखकारक हैं परन्तु आत्मा सदा निराकुल सुख स्वरूप है । जब ऐसा विचार आता है तो यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि इनके होने में कुछ न कुछ कारण विशेष है और वह इसका अज्ञान-कर्मकरभाव ही है इस तरह जैसे जैसे इसका यह विचार जोर पकड़ता जाता है वैसे वैसे अज्ञान दूर होकर रागादिरूप आश्रव भी कम होता चला जाता है ऐसा गाथा नं. ७४ का मतलब है।

जिससे नूतन कर्मबन्ध होकर फिर उससे नूतन गात,
धारण करना पड़े द्वेषरागादि रूप परिणाम विख्यात ।
कभी नहीं होने देकर के निर्विकल्पता है ठानी,
वह अपनी समाधि के बल से हो लेता सच्चा ज्ञानी ॥४८

अज्ञानी जीव संकल्पविकल्प में पड़ कर रागद्वेष का जनक होता है जिससे उसके नूतन कर्मों का बन्ध होकर आगे नवीन शरीर धारण करने का भी मौका आ उपस्थित होता है इस तरह संसार चक्र चलता है अतः जो उसे मेटना चाहता हो वह उसका मूल कारण अपने रागद्वेष परिणामों को न होने देने के लिए संकल्पविकल्पों से दूर होकर निर्विकल्प अवस्था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

को अपनावें ऐसा चाहिये। निर्विकल्पता पर आने के लिए दो तरीके हैं एक बाहरी और दूसरा भीतरी, बाहिर में पञ्चमहाव्रतावस्था का होना और अन्तरङ्ग में निमित्त दृष्टि को दबा करके उपादान दृष्टि को स्वीकार करना।

यद्यपि कार्य, उपादान और निमित्त, दोनों से ही सम्पन्न होता है दोनों में से एक भी न हो तो कार्य भी न हो । किन्तु इनमें से निमित्त पर दृष्टि आ जाने से संकल्प विकल्प प्रस्तुत होते हैं जिससे कि रागद्वेष आये बिना नहीं रहते ! और निमित्त से हटकर उपादान की और दृष्टि आ जाने से संकल्प विकल्प के लिए स्थान नहीं होता ताकि वहां रागद्वेष भी हो पाते ही नहीं। देखो - एक विद्यार्थी परीक्षा में असफल हो जाने के कारण मर मिटने के लिए तैयार हुआ, वह जहर को हाथ में लेकर मुंह में डालना चाहता था कि अध्यापक ने झट से उसका हाथ पकड़ करके उसे समझाया कि भैया ऐसा करने से क्या फायदा, इससे तो तुम दुर्गति में जावोगे, जिन्दे रहोगे तो फिर से परिश्रम करके अबकी बार न हुए तो आगामी साल में उत्तीर्ण हो जावोगे ताकि कुछ कर बतावोगे इत्यादि कहने पर उस विद्यार्थी का रोष शांत हो गया और वह गुरु के चरणों में पड़ कर कहने लगा कि प्रभो आपने मेरा उद्धार कर दिया मुझे मरने से बचा कर सन्मार्ग पर लगा दिया। अध्यापक ने कहा कि भैया मैंने क्या किया है, कुछ नहीं. तुम्हारा आयुष्य था ताकि समय पर मैंने तुम्हें देख लिया और मेरे कहने को तुम मान भी गये नहीं तो कौन किसी की सुनता है। अब यहां पर दोनों का ही कहना ठीक है दोनों ही अपने आत्मत्व की अपेक्षा से सही रास्ते पर हैं । अगर विद्यार्थी गुरु को कोई चीज न माने तो विष खाने से न रहे और अपना बुरा कर जाय एवं गुरु यदि कहने लगे कि देख लो मैंने तुम्हें बचा दिया इत्यादि तो गुरु का गौरव ही नष्ट हो जाय। इसी प्रकार लोग गार्हस्थ्य में फंसे हुये हैं वे अगर सन्निमित्तों की परवाह न करे तो दुर्निमित्तों की उलझन में आकर अपना बुरा कर जाये और महाव्रती होकर भी यदि निमित्तों की तरफ ही देखता रहे तो वह अपने आत्मबल को न पाकर उल्टा धीरे धीरे गृहस्थपन पर ही आ जावे । किन्तु निमित्त को न याद करके उपादान की ओर देखने लगे तो समभाव के द्वारा निर्विकल्पता को स्वीकार कर अपनी समाधि में लग कर सम्यग्ज्ञानी बन सकता है। अस्तु। निर्विकल्पसमाधि में लगना चाहने वाले साधु की विचारधारा कैसी होती है सो बताते हैं-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

उदयागत क़र्मों को यद्यपि सदा जानता रहता है,
छद्मस्थों की भांति किन्तु वह नहीं जरा भी गहता है।
क्योंकि नहीं उनके निमित्त से होता है विकार खानि,
इसीलिये न नये उपजाता जो होता सकलज्ञानी ॥४९॥

कहा जाता है कि कर्मों के उदय से यह ज़ीव सुखी दुःखी होता है सो कर्मो का उदय तो सकल परमात्मा कहलाने वाले सर्वज्ञ भगवान के भी होता है और उसे वे भगवान जानते भी रहते हैं फिर भी उनकी आत्मा में उसके द्वारा जरा सा भी विकार नहीं होता क्योंकि वे उसे ग्रहण नहीं करते कर्मोदय को कर्मोदय मानकर उनका उपयोग विचलित नहीं होता किन्तु वे जिस प्रकार से और सब चीजों को जानते हैं वैसे ही कर्मोदय को भी जानते ही रहते हैं उसमें भला बुरापन को स्वीकार नहीं करते अतः उन्हें उससे सुखदुःख भी नहीं होता और आगे के लिए बन्ध भी नहीं हो पाता, पूर्वसञ्चित कर्मों की निर्जरा ही होती रहती है। छद्मस्थ अज्ञानी जीव कर्मों को अपने मान कर तन्मय हो रहता है इसीलिए बन्ध करता है । किन्तु इसकी वह मान्यता वस्तु दृष्टि से गलत मान्यता है क्योंकि कर्म तीन प्रकार से कहा जा सकता है - या तो उस परिणामस्वरूप आप परिणमन करे तो वह परिणाम १। या आप किसी को ग्रहण करे वह वस्तु २। या किसी को पैदा की जावे वह वस्तु ३। सो कर्म कही जाने वाली वस्तु का जीव के साथ वास्तव में तीनों ही तरह का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह तो पुद्गलद्रव्य का परिणाम है इसलिए न तो उसे जीव उपजा ही सकता है और न ग्रहण ही कर सकता है। वस्तुतः कर्मभिन्न द्रव्य की-पुद्गल की पर्याय है और आत्मा उन से भिन्न यह गाथा नं. ७६ का मतलब समझना चाहिये।

मेरे ही अज्ञानभाव से हैं मुझ में संकल्प विकल्प,
उन मेरे भावों के द्वारा है मेरा यह कायाकल्प ।
कर्म विचारे कौन क्या करें वे तो बनते स्वतः निमित्त,
यों कहकर ज्ञानी हो लेता परमसमाधि समर्पितचित्त ॥५०॥

ज्ञानी जीव विचारता हैं कि मेरी जो यह और की और अवस्था हो रही है वह सब भी मैं अज्ञान के वश होकर संकल्प विकल्प में फंस रहा हूँ और मेरे भावों को बिगाड़ रहा हूँ उसी का फल है। कर्मों को दोष देना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ **************************

व्यर्थ है वे तो विचारे निमित्त मात्र हैं उनको भी तो मैंने ही स्वीकार किया है तब वह हुए हैं अन्यथा तो फिर वे मेरा क्या कर सकते हैं । अस्तु आज तक हुआ सो हुआ अब भी मैं ऐसा क्यों करूं इस प्रकार सोच कर वह (ज्ञानी) निर्विकल्प परम समाधि में लीन बन जाता है। गाथा नं. ७७

साता सातरूप में जैसा जो कुछ कर्मविपाक बने,
वह मुझ चिन्मूर्तिक का जड़मय होने से क्या कहो हने
यों जाकर निस्तब्धभाव से हुआ स्वानुभव में तल्लीन,
दुनियां उसके लिये नहीं फिर वह ज्ञानी दुनियाँ से हीन ॥५१॥

वह सोचता है कि मैंने पूर्व में अज्ञान अवस्था में तन्मय होकर जिन कर्मों को उपार्जन किया था उन कर्मों का विपाक पुण्य या पाप रूप में जैसा भी होता है वह होता रहे । वह जड़मय मूर्तिक है मैं चिन्मूर्ति अर्थात् रूप, रस, गन्ध स्पर्श संस्थानादि रहित हूं मेरा वह क्या बिगाड़ सकता है मुझ तक तो वह पहुँचता ही नहीं फिर मुझे उसकी चिन्ता करने की जरूरत ही क्या है इत्यादि रूप से उसे भुला कर ज्ञानी जीव निस्तब्ध शान्तभाव से स्वानुभवलीन हो लेता है उस समय उसको सिवाय अपने आपके और कुछ दीखता ही नहीं मानों दुनियां उसके लिए कोई चीज है ही नहीं ऐसी एकाग्र आत्मतन्मयता हो जाती है । उस समय उसके पूर्वसञ्चित कर्म भी अनभिभावित प्राधूर्णिक की भांति उससे सहज में ही दूर होने लगते हैं और फिर कुछ ही देर में वह निष्कर्मा होकर दुनियां से परे की चीज बन जाता है। आत्मा से साक्षात् परमात्मा हो जाता है। यह गाथा नं. ७८ का भाव है। अस्तु। अब जीव का और कर्मों का परस्पर में कैसा क्या सम्बन्ध है सो बताया जाता है -

उपादानरूपेण जीवकर्ता है अपने भावों का,
तथा कर्म भी, कर्म सदा होता है पुद्गल दावों का।
वह चेतनरूपादि शून्य है पर यह उससे उलटा है,
ज्यों संयोग हुये व्यभिचारी नर तो नारी कुलटा है ॥५२॥

अर्थात् जीव जिस प्रकार उपादन में अपने परिणामों का ही आप कर्ता होता है और अपने परिणामों के रुप में आप ही अपना कर्म भी अर्थात् जीव का पूर्वक्षण परिणाम उपादान कारण होता है तो उत्तरक्षण परिणाम उसका कार्य। इसी प्रकार कर्म जिसको हम लोग कहा करते हैं वह पौद्गलिकहैपुद्गल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

ही उसका उपादन कारण है और कर्म उसका कार्य। अपितु निश्चयानुरूप दृष्टि में न तो जीव ही कर्मों का कुछ कर्ता है और न कर्म कभी उसके द्वारा किये ही जा सकते हैं अर्थात् जीव अपने चेतन परिणाम को छोड़ कर न कभी पुद्गल रुप हो सकता है और न कर्म पुद्गलों को ही चेतनत्व रूप में परिणमा सकता है । हां परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध को लेकर जीव कर्मों का कर्ता और कर्म उसका कार्य कहा जाता है। जैसे कि पुरुष पुरुष ही है और स्त्री-स्त्री ही किन्तु जब दोनों का आपस में घृणित सम्बन्ध होता है तो पुरुष व्यभिचारी बन जाता है और स्त्री उसके द्वारा कुलकलंकिनी।

क्योंकि जीव के रागरोष को पाकर पुद्गल कर्म बने,
उसके कर्मपने को लेकर जीव पुनः रागादि ठने।
कुम्भकार के कर से मिट्टी हिले देख कर हिलती को,
कुम्भकार फिर और हिलावे यह है उदाहरण नीको ॥५३॥

उसी उपर्युक्त निमित्तनैमित्तकपन को इस में स्पष्ट किया जाता है कि- आत्मा में जब रागद्वेष उत्पन्न होते हैं अर्थात् जब यह आत्मा संकल्पविकल्प में पड़ कर भला बुरा मानता है तो इसके परिणाम को निमित्त लेकर के सन्निकट होने वाले कार्माणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्धकर्मरूप में परिणत हो जाते हैं और उनके कर्मपने को पाकर इस अज्ञानी जीव में फिर से आगे को भी रागरोष बनते हैं इसी प्रकार धारा चलती रहती है जैसे कुम्भकार के दिल में घड़ा बनाने रूप भाव होता है तो वह उसके चाक पर मिट्टी को रख कर उसको अपने हाथ से चलाता है और उसके हाथ से जब मिट्टी घड़े के रूप में परिणत होती हुई प्रतीत होती है अतः वह उसे पुनः पुनः इसी रूप से चलाता है ताकि वह ठीक घड़े के रूप में आ जावे ॥

शङ्का - निमित्त को कारणरूप न मानने वाला कहता है कि कुम्हार के निमित्त से घड़ा नहीं बनता ।मिट्टी की जिस समय की पर्याय में घड़ा बनने की योग्यता है उसी समय वह अपने उपादान से ही घड़े के रूप में हो जाती है और उस समय कुम्हार की उपस्थिति अपने निज के कारण से होती है जिसे निमित्त कहा जाता है किन्तु वह घड़े को बनाता नहीं है।

उत्तर - भैया जी जरा सोचो तो सही कि जब कुम्हार के निमित्त से घड़ा बनता ही नहीं तो फ़िर कुम्हार को उसका निमित्त कहा ही क्यों जावे । हां ऐसा कहो तो ठीक है कि कुम्हार से ही घड़ा नहीं बनता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ *************************

उसके बनने में और भी अनेक कारण कलाप हैं उन सबके समुचित समागम से घड़ा बनता है। प्रत्युत इसके तुम्हारे कहने का मतलब तो यह निकलता है कि निमित्त की निमित्तता कुछ है ही नहीं परन्तु जैन शासन में तो निमित्त को हर जगह लिया गया है । उसके बिना कोई भी कार्य विशेष होता ही नहीं और जब उसके बिना नहीं होता तो यह भी सहज ही आ गया कि निमित्त से कार्य होता है । इसको इतर जैनाचार्यों ने ही नहीं, खुद स्वामी कुंदकुन्दाचार्य जी ने भी स्वीकार किया है। श्री समयसार जी की गांथा नं. ८१ के अण्णोण्णणिमित्तेणदुपरिणामं जाण दोह्रेंपि। इस उत्तरार्द्ध वाक्य में जोरों से निमित्त का विधान पाया जाता है आचार्य श्री ने अन्योन्यनिमित्तेन इस प्रकार से तृतीयाविभक्ति का ग्रहण किया है जो कि - साधकतमं करणं। कर्तरि करणे च भा व्याकरण के इस अटल नियम के अनुसार नियम से कार्य के उत्पादक कारण के लिये ही ग्रहण की जाती है । इससे आचार्य श्री ने स्पष्ट किया है कि जीव और पुद्गल का विकृत परिणमन एक दूसरे के निमित्त से ही होता है उसके बिना नहीं हो सकता। थोड़ी देर के लिये जीव और कर्म को तथा घट और कुम्भकार को भी रहने दो परन्तु घड़े को ही लेलो वह असंख्य परमाणुओं का मिलकर तादृश स्कन्ध हुआ है या एक ही परमाणु का तो तुम ही कहोगे कि वह तो अनेक परमाणुवों का सम्मिलित स्कन्ध है अकेले परमाणु से ऐसा कभी नहीं हो सकता। बस तो यही निमित्त की कारणता है जिसके बिना तादृश कार्य नहीं हो सकता।

शङ्का - आप के कहने से तो वस्तु का परिणमन परतन्त्र हो गया हमने तो सुना है - जैन सिद्धान्त कहता है कि हरेक वस्तु का परिणमन स्वतन्त्र होता है कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता ।

उत्तर - भैया जी तुम भी ठीक कह रहे हो वस्तु का सहज स्वाभाविक परिणमन तो अपने आप ही होता है परन्तु उसका वैभाविक विकृत परिणाम जो होता है वह दूसरे के द्वारा उसको निमित्त लेकर ही हुआ करता है उसके बिना नहीं। जैसा कि जीव का रागादि रुप परिणमन कर्मों के निमित्त से और पुद्गल का कर्म रुप परिणमन जीव के रागादि परिणाम के निमित्त से ।

किन्तु कर्म के फन्दे में भी जीव नहीं यह जड़ होता,
उससे मिलकर भी पुद्गल क्या वर्णादिक को है खोता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

एक दूसरे के निमित्त से नरनारी हो जाते हैं,
थे जो कुमार और कुमारी यों संसार सजाते हैं ॥५४॥

जीव और कर्मों में एक दूसरे के प्रभाव से उपर्युक्त अवस्था होने पर भी दोनों ही अपनी अपनी विशेषताओं को कभी नहीं छोड़ते । कर्मों के पूर्ण दबाव में आकर भी जीव अपने चेतनपन को छोड़ कर जड़ नहीं बन जाता तो कर्म पुद्गल भी जीव के साथ में होकर अपने वर्णादिमान स्वभाव से च्युत हो जाता हो ऐसा कभी नहीं होता। परन्तु कुमार और कुमारी दोनों आपस में मिलकर नर और नारी बन जाते हैं तथा गार्हस्थ्य जीवन को प्राप्त होते हैं वैसे ही जीव और कर्मों की सम्मिलित चेष्टा से संसार बन रहा है । हां कुमार और कुमारी का सम्बन्ध आपस में उनके जन्म के बाद में होता है, सादि है परन्तु जीव कर्मों का संयोग अनादि तथा कुमार कुमारी का संयोग होकर नर नारी हो जाने के बाद फिर वे अपने उस जन्म में कुमार कुमारीपन को वापिस प्राप्त नहीं कर सकते किन्तु जीव कर्मों से छुटकारा पाकर आत्मा एवं जीव से अलहदा होकर कर्मपुद्गल के रुप में वापिस आ जा सकता है अतः जीव संसारी सिद्ध कब कैसे बन सकता है सो बताते हैं -

पारा मूर्छित हो जाता है जों औषधि का योग मिले,
वही खटाई को पाकर फिर प्रगट हो स्वयं डुले हिले।
औदयिकादिक भाव वासना से भववासी कहलावे,
परमपारिणामिक को लेकर वही सर्ववित हो जावे ॥५५॥

अनेक प्रकार की जड़ी बूटियों का संयोग पाकर जो पारा मूर्छित हो जाया करता है वह जब कि खटाई का मेल पावे तो वापिस अपने असली रूप में आकर पहले की तरह से ही हिलने डुलने लग जाता है । उसी प्रकार यह आत्मा भी कर्मों के संयोग को अपनाकर उनके निमित्त से होने वाले अपने औदयिकक्षायोपशमिक भावों को स्वीकार किये हुये है तब तक जन्म मरण करने वाला संसारी बन रहा है । परन्तु सत्यसमागम को पाकर जबकि सहज शुद्ध परमपारिणामिक एक ज्ञायक भाव के रूप में परिणत हो लेता है तो सर्वज्ञ बन जाता है । मतलब यह कि - संयोग पर लक्ष्य करते हुये ऊपरी दृष्टि से विचारा जाय तब तो कर्मों की वजह से ही जीव की यह परतन्त्र अवस्था है किन्तु वस्तु दृष्टि से उपादान पर विचार लाया जाय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ *************************

तब फिर तो जीव अपने परिणामों से ही संसारी है और अपने परिणामों से ही सिद्ध भी होता है। सो कैसे होता है यही नीचे बता रहे हैं-

निश्चयनय को अपना करके शुक्ल ध्यान में हो लवलीन,
आत्मभावना के सिवाय तब और भाव सब होय विलीन ।
उसको जाने उसको माने उसको ही पहिचाने है,
करना तो हो दूर कर्म का उसका यों बल भाने है ॥५६॥

जब यह आत्मा निश्चयनय पर पहुँचता है तो वहां शुक्लध्यान को प्राप्त करता है अर्थात् उस समय उसके उपयोग में से और सब विचार हटकर एक अपनी शुद्धात्मा का ही विचार शेष रह जाता है। अपनी सच्चिदानन्दमय आत्मा को ही जानना उसी पर भरोसा करके उसी को स्वीकार किये रहना इसके सिवास उसका और कोई भी काम नहीं रह जाता ऐसी हालत में किसी भी प्रकार के कर्म को करता रहना यह बात तो हो ही कैसे सकती है बल्कि उसकी आत्मा पर से तो पूर्वसञ्चित कर्मवासना भी नष्ट हो जाती है । क्योंकि वह बिल्कुल ही मोह, द्वेष और राग से हीन हो लेता है। हां जब तक कि -

अपनी गिरी हुई हालत को दिल से जो अनुसरता है,
बुरे काम को छोड़ भले से भला काम वह करता है।
इस कर्तव्य-परायणता से सबसे भल कहाने को,
एक रोज लायक बन जाता है उत्तमता पाने को ॥५७॥

उपर जिसका वर्णन कर चुके हैं उत्तमात्मा समझना चाहिये उस उत्तमपने को जो न प्राप्त कर सका हो किन्तु जो अपने आपको जानता और मानता जरुर हो अतः जो अपनी वर्तमान गिरी हुई अवस्था को अपने उपयोग में ले रहा हो अर्थात् मैं अपने सहज स्वभाव से तो सच्चिदानन्द ज्ञायकरूप हूं परन्तु इस दुनियांदारी की उलझन में पड़कर संकल्प विकल्प के कारण रागद्वेष युक्त हो रहा हूँ इस प्रकार का जिसका आत्मविश्वास हो वह जघन्य अन्तरात्मा या भला पुरुष होता है। वह अपनी गिरावट को दूर करके ठीक हालत पर आना चाहता है अतः धीरे धीरे अपने आत्मबल को बढ़ाता है। सबसे पहले वह बुराइयों को छोड़कर भलाइयों को स्वीकार करता है हिंसा झूठ चोरी वगैरह पाप वासना से बचे रहने के लिये दया, सत्य बोलना वगैरह सदाचार को करने लगता है जब कुछ और आत्मबल प्राप्त कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ***********************

लेता है तो उसमें जो कुछ कसर दीखती है उसे भी हटाकर के उसमें तत्पर होताहै इस प्रकार आगे आगे भले से भला बनते चलता है और इस कर्तव्य परायणता के द्वारा एक रोज सबसे अधिक भला होकर अन्त में उस उत्तमता को प्राप्त करने योग्य हो जाता है। जैसे एक चिरकाल का अशक्त रोगी निरोगता प्राप्त कर पाता है तो वह खटिया पर से उठ कर पहले तो तकिये के सहारे बैठता है पिर उठकर लाठी के सहारे से चलता है एवं ताकत प्राप्त करके अन्त में अपने आप चलने लगता है। उसकी उस कर्तव्य परायणता का नाम ही व्यवहारनय है यही गाथा नं. ८४ का मतलब है जिसका अधिकारी सराग सम्यग्दृष्टि होता है।

अब इससे आगे नं. ८५ और ८६ की गाथा में मिथ्या दृष्टि कौन होता है सो बतलाया है वह निम्न प्रकार है -

एकोपादानत्वरूप में जड़ चेतन को जो गाता,
निर्विकाल चिच्चमत्कार मय आत्म तत्व को नहि पाता।
जिनजी के सच्चे मत में वह मिथ्यादृष्टि कहा जाता,
उसको ही श्री समयसार दो क्रिया कथक है बतलाता ॥५८॥

जो जड़ और चेतन को अर्थात् शरीर और आत्मा को सर्वथा एकमेक माने हुए है उसी को श्री जिनेन्द्र भगवान के मत में मिथ्या दृष्टि कहा जाता है क्योंकि वह सदा एक अखण्ड रहने वाले अपने आपके चेतन स्वरूप को भूले हुए होता है । उसी को श्रीसमयसार जी में द्विक्रिया वादी भी कहा गया है वहां पर क्रिया नाम परिणाम परिवर्तन अर्थात पलटते रहने का है जो कि परिणाम प्रवाह रुप में सदा बना रहने वाला और अपने परिणामी के साथ अभिन्न भाव को लिये हुए होता है। अब जैसे कुम्भकार घड़े का करने वाला है किन्तु वह घड़े बनाने रूप इच्छा को बा तद्रूप हस्तादि व्यापार मय चेष्टा को अपने से अभिन्नता लिए हुए करता है उस प्रकार से ही घड़े को करता हुआ प्रतीत नहीं होता । घड़ा उससे भिन्न चीज है जो कि मिट्टी से बना है उसका उपादान मिट्टी है कुम्भकार तो उस में निमित्त है। वैसे ही शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न हैं । शरीर का उपादान पुद्गलद्रव्य है जोकि रूपादिमान होते हुए जड़ स्वरूप है अपितु जीव रूपादि रहित चेतन है दोनों की सत्ता भिन्न भिन्न है ऐसा न मान कर जो चार्वाक की तरह दोनों को जड़ रूप ही अथवा ब्रह्माद्वैत वगैरह की तरह दोनों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ****************************
को चेतन रूप ही मान रहा हो वह द्विक्रियवादी होता है।

द्विक्रियवादिपने को लेकर मिथ्यापन अज्ञान तथा,
अविरतिरूप कोप इत्यादिक मोह नाम संयोग कथा।
जीवाजीवतया दोनों भागों में वह बाटा जाता
सम्वेदनमय जीव और सम्वेद्यमान जड़का तांता ॥५९॥

द्विक्रियवादिपन जिसका कि ऊपर वर्णन हो चुका है जोकि निश्चय की तरह ही व्यवहार से शून्य सिर्फ भ्रष्टतारूप है और जोकि इस संसारी आत्मा के साथ अनादि से लगा हुआ है ताकि यह भूल खा रहा है उसी का यह सब पसारा है जोकि मिथ्यात्व अज्ञान तथा अविरति और क्रोधादि के रूप में प्रगट होता हुआ दीखता है। वह जीव और अजीव दोनों के मेल से होने वाला संयोगी भाव है अतः वह दोनों के रूप में ही विभक्त भी किया जा सकता है। सम्वेदनात्मक अर्थात अनुभवरूप जो मिथ्यात्वादिक हैं वे तो जीव के परिणाम हैं किन्तु सम्वेद्यमान जोकि अनुभव में लाये जाते हैं वे सब पुद्गल के परिणाम होते हैं। इन सबका पूर्ण रूप से अभाव तो स्पष्ट शुद्धोपयोग रूप निर्विकल्प समाधि स्थित ज्ञान चेतना वाले जीव के ही होता है जैसा कि गाथा नम्बर ८६ की तात्पर्यवृत्ति में लिखा है - विषय सुखानुभवानन्दवर्जिते वीतरागस्वसम्वेदनवेद्ये भूतार्थनयेनैकत्व व्यवस्थापितेचिदानन्दैकस्वभावे शुद्ध परमात्मद्रव्येस्थितानामेव समस्त शुभाशुभपरभावशून्येन निर्विकल्प समाधिलक्षणेन शुद्धोपयोगभावनाबलेन सज्ञानिनामेवविलयं विनाश गच्छति। अर्थात् जहां पर वैषयिक सुख भोगने से सर्वथा दूर हो जाया जाता है, जहां पर वीतराग रूप सिर्फ अपना सम्वेदन मात्र रह जाता है, निश्चयनय के साथ में एकमेकपना हो लेता है इस प्रकार के चिदानन्द स्वरूप शुद्ध परमात्म द्रव्य में जो लोग स्थित हो लेते हैं ऐसे ज्ञानी जीवों के ही सब तरह के शुभ या अशुभ रूप पर भाव से रहित, निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोग की भावना के बल से वह द्वैधीभाव रूप मोह नष्ट हो जाता है मतलब यह कि कर्ता कर्मपना का अभाव वहीं जाकर होता है। इससे पहले ही जो कर्ता कर्मपने का अभाव करना चाहते हैं या माने हुए हैं वे श्री जिन शासन से विमुख जा रहे हैं। उस उपर्युक्त दशा से पहले तो इतना ही हो सकता है कि - मिथ्यात्वाविरति इत्यादि रूप अशुभ कर्म न करके शुभ कर्म करने लगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

मोह युक्त उपयोग जीव का तीन तरह यों होता है,
नया नहीं पर लगा हुआ यह अनादि से ही सोता है।
जब साधक की भांति जीव जैसा भी अपना भाव करे,
स्वयं साध्य की तरह तभी पुद्गल भी कर्म विपाक धरे ॥६०॥

जैसे कि एक मन्त्र साधक जिस विचार को लेकर मन्त्र जपता है, उस मन्त्र जपने में एकाग्र होता है तो उसके उस विचार को निमित्त लेकर बिषादिक, जिसका उसने विचार किया हो तदनुरूप स्वयमेव परिणत हो जाता है। यद्यपि मन्त्र वादी उस विषादि के पास न जाकर अपने ही स्थान पर होता है। उसी प्रकार यह आत्मा जैसे मिथ्यात्वादि रूप परिणाम करता है तो उस परिणाम को निमित्त लेकर पुद्गल भी स्वयं ही कर्म रुप परिणम जाता है । गाथा ८९ से ९१ तक

मिथ्यात्वादिरूप हो जब तक अहंकार ममकार धरे,
यों अज्ञान भाव से तब तक कई तरह के कर्म करे।
अहंकार ममकार मिटे से निज सम्वेदन लीन बने,
क्यों फिर कर्म करे यह चेतन यों होकर संसार हने ॥६१॥

जब तक कि यह जीव मिथ्यात्वादि रुप में परिणत होकर यह शरीर है सो ही मैं हूँ इस प्रकार विचार रूप तो अहंकार तथा ये धन मकान वगैरह हैं सो मेरे हैं इस तरह के ममकार को लिये हुए है,पर पदार्थों के साथ तन्मयता रखता है तब तक उस अज्ञान भाव के द्वारा ही अनेक प्रकार के शुभा शुभ कर्म करता रहता है । जहां वह अहंकार और ममकार दूर हुआ कि आत्मा सब तरफ से हटकर अपनी आत्मा के अनुभवन करने में लीन हो लेता है तो वहां इसको किसी भी प्रकार का कर्म करने को अवकाश ही कहां रह जाता है, वहां तो आप ही आप है और कुछ नहीं इस प्रकार उसके संसार का अभाव हो जाता है क्योंकि संसार तो दो के मेल का ही नाम है। ऐसा गाथा नं. ९२ और ९३ का मतलब है।

मिथ्यादर्शन बोध वृत्त यों तीन तरह का होता है,
उस अज्ञान भाव से परको निज २ को पर जोता है.
बिन विवेक मूढ़ मति ऐसे बना हुआ है इसीलिये
कर्ता है विकार भावों को हो जैसे कि शराब पिये ॥६२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

यह आत्मा जिस अज्ञान भाव से अपने को पर रूप और पर को आप रूप किये हुए रहता है वह अज्ञान भाव मिथ्यादर्शन, अज्ञान और असंयम के भेद से तीन तरह का होता है। जिसको कि लेकर यह परस्पर के विवेक से रहित मूढ बना हआ है और उस मूढता के द्वारा अनेक तरह के क्रोध मान मात्सर्यादि विकार भावों को करता रहता है जैसे कि शराब पिया हुआ पागल आदमी कभी हंसता है और कभी रोने लग जाता है इत्यादि। ऐसा समयसार जी की गाथा नम्बर ९४ से ९६ में लिखा हुआ है। अर्थात् श्री समयसार जी में मिथ्यात्व अज्ञान और असंयम इन तीनों को ही अज्ञान कह कर पुकारा गया है एवं उन तीनों के दूर होने पर ही ज्ञानी होता है। जिस को कहीं ज्ञानी तो कहीं सम्यग्दृष्टि और कहीं कहीं पर अभेद विवक्षा करके ज्ञान शब्द से भी ले लिया जाता है। जो लोग - आपापरका बोध हो जाने मात्र से ही जीव ज्ञानी हो जाता है और ज्ञानी होने पर संसार से छूट जाता है ऐसा ही समयसारजी का मतलब समझते हैं वे गलती खाते हैं। यही बात नीचे नम्बर ९७ की गाथा में और भी स्पष्ट हो जाती है देखो -

सतृणाभ्यवहारी पशु की ज्यों वह बन्धन अपनाता है,
निस्तुषतण्डुलतुल्य शुद्ध आत्मा से जो लव लाता है।
वीतराग सम्यक्त्व युक्त वह तो अवन्ध हो जाता है,
जब तक राग सुभाग रहे तब तक सुकर्म गुण गाता है ।।६९।।

जिस प्रकार गाय वगैरह पशु अपने खाने की चीज खल के साथ अगर कोई तिनका वगैरह मिला हो तो उसको अलहदा न करके उसको भी उस खल के साथ में खा जाता है सिर्फ खाने से प्रयोजन रखता है उचितानुचित के विवेक से हीन होता है इसीलिए रस्सी से बन्धा हुआ भी रहता है उसी प्रकार उपर्युक्त अज्ञानी जीव कर्तव्या कर्तव्य के विचार से रहित होकर यद्वा तद्वा करता है अत: बन्ध करता रहता है। परन्तु मनुष्य अपने खाने की चीज चावलों पर से कङ्कर पत्थरों की भांति तुष तक को भी हटा कर केवल चावलों को खाया करता है हस विवेक शीलता की वजह से ही वह खुला रहता है। वैसे ही अपने को और पराये को जानते हुए परपदार्थों का परित्याग करके अपनी चीज को ग्रहण करता है अर्थात् स्त्री पुत्र, धन, मकानादि वाह्य पदार्थों को त्यागने के साथ शरीर से भी बिल्कुल निर्मम होकर सिर्फ अपनी शुद्धात्मा में लवलीन हो रहता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है वह वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव ही निर्बन्ध बनता है । बाकी जो कि मेरी आत्मा इन वाह्यपदार्थों से ही नहीं अपितु इस शरीर से भी भिन्न सच्चिदानन्द रूप है इस प्रकार जानता एवं मानता मात्र है वह सराग सम्यग्दृष्टि तो सिर्फ अशुभ कर्मों को न करके शुभ कर्मों को कर्ता रहता है देखो तात्पर्य वृत्ति मनसियोऽसौवस्तुस्वरूपं जानातिस सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुञ्चति। निश्चय चारित्राविनाभाविवीतराग सम्यग्दृष्टिर्भूत्वाशुभाशुभसर्वकर्म कर्तृत्वंच मुंचति। अस्तु। मिथ्यादृष्टि जीव तो शरीर का भी दास बना रहता है अतः वह तो हर समय अशुभकर्म-मिथ्यात्व का ही बन्ध करता रहता है। हां अघातिया कर्मों में से कभी कभी शुभायुर्नाम गोत्र तथा सातावेदनीय का भी बन्ध करता है किन्तु वहां भी उसका योग ही शुभ होता। उपयोग तो आत्मा को शरीर से भिन्न मानने रूप शुभ न होकर शरीर के साथ तन्मयता रूप अशुभ ही रहता है अतः वह हरेक वाह्यकार्यों को भी विमूढ भाव से करता है -

घटादिकाकर्ता आत्मा व्यवहार से कहा जाता है,
उसमें भी योगोपयोग को ही यह तो कर पाता है।
हां इसका योगोपयोग वह घटादि होने में होता,
निमित्त है यों चल करके यह अपने आपे को खोता ॥६४॥

संसारी आत्मा का क्या विमूढपना होता है उसी को इन गाथा नम्बर ९८, ९९, १०० में स्पष्ट किया गया है। आचार्य महाराज कहते हैं कि व्यवहार में आत्मा को घटपटादि का करने वाला माना जाता है किन्तु वहां पर विचार कर देखा जाय तो निमित्त नेमित्तिक रुप में भी घटपटादि के करने वाले तो आत्मा के तदनुकूल होने वाले योग और उपयोग भाव ही होते हैं । आत्मा तो उन अपने उपयोग अर्थात् विचार तथा योग यानी कायादिमय चेष्टा को ही करता है जब तक कि रागादिमान है । योगोपयोग भी कादचित्क होते हैं तो घटादि भी कभी कहीं होने वाले । आत्मा तो आत्मत्व के रूप में सदा रहने वाला है। परन्तु संसारी मिथ्यादृष्टि जीव तो सोचता है कि मैं ही इनको करता हूं और इस तरह से तन्मय होकर वह अपने आपको खो बैठता है। एवं कुकर्मकारक होता है क्योंकि -

ज्ञानावर्णादिकमय होना यह तो है पुद्गल का काम,
किन्तु जहां तक अज्ञानी रहता है भले बुरे परिणाम।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

करता रहता है पर फिर भी ज्ञानी तो इन से भी दूर
होकर झटपट ही हो लेता वीतराग विज्ञान हुजूर ॥६५॥

ज्ञानावरणादि कर्मों के रुप में परिणमन करना तो पुद्गल का कार्य है। जीव तो जब तक संकल्प विकल्प में फंसा रहता है अपने परिणामों को भले और बुरे बनाता रहता है। जिन को कि निमित्त लेकर पुद्गल परमाणु कर्म रूप में परिणत हुआ करते हैं। किन्तु जो कि ज्ञानी होता है वह संकल्प विकल्प से दूर रहता है उसके लिये न तो कोई पर द्रव्य भला ही होता है और न बुरा ही एवं वह वीतराग बन कर शीघ्र ही विज्ञान का भण्डार पूर्ण ज्ञानी हो जाता है ।

खाश बात यह है कि एक का गुण न दूसरे में जाता,
तो फिर कैसे कहो सदाशिव स्वयं प्रकृति को कर पाता ।
है अनादि सम्बन्ध स्वर्ण पाषाण की तरह दोनों का,
चेतन के रागादि भाव ही नूतन कर्मों का मौका ॥६६॥

इस सब हमारे कहने का एक स्पष्ट मतलब यही कि एक द्रव्य का गुण दूसरे द्रव्य में कभी नहीं जाया करता यह अटल नियम है अगर ऐसा न माना जाय तो फिर कोई भी चीज न रहे सर्व शून्यता आ धमके। पुद्गल जिसको कि प्रकृति भी कह सकते हैं एक भिन्न द्रव्य है जो कि रूपादिमान और जड़ है किन्तु जीव आत्मा उससे जुदा द्रव्य चेतन और अमूर्तिक। ये दोनों आपस में एक दूसरे के मूलतः उत्पादक कैसे हो सकते हैं एक का गुण दूसरे में किस प्रकार आ सकता है कभी नहीं आ सकता। अतः जो लोग ऐसा मानते हैं कि सदाशिव में से जगत उत्पन्न हो गया या सदाशिव में से प्रकृति पैदा होकर उस से यह सृष्टि बन गई उनकी बात मन को नहीं भाती। अपितु बात यह कि जीव और पुद्गल कर्म इन दोनों का सम्बन्ध सुवर्ण पाषाण में कीट और सुवर्ण की तरह अनादि से ही हो रहा है। न तो जीव ने ही कर्मों को नये सिरे से पैदा किया है और न कर्मों ने ही शुद्द जीव को अशुद्ध बना कर दब्बू बना पाया है यह तो सदा का ऐसा ही इनका परस्पर में संयोग बना हुआ है। कर्म विपाकान्त हैं उनका सबका विपाक एक साथ न होकर अपने-अपने योग्य समय में होता रहता है जिसका हिसाब गोमट्टसारादि में बताया हुआ है । जब उनका विपाक होता है तो उसके निमित्त से जीव में रागादि भाव उत्पन्न होते हैं ताकि वह उनकी एवज में नूतन कर्म बन्ध कर लेता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

पुद्गल कर्मरुप बनता है पाकर जीव विकारी को,
खिल उठता है कमल काण्ड जैसे लेकर रविवारी को।
इसीलिये कर्मों का कर्ता जीव कह दिया जाता है,
किन्तु क्यों नहीं कहो विस्त्रसोपचय कर्म हो पाता है ॥६७॥

सूर्य के उदय को पाकर कमलों का बन खिल उठता है। उसी प्रकार विकारी रागद्वेष युक्त जीव को निमित्त लेकर पुद्गल परमाणु कर्म रुप में परिणत होती हैं इस सिर्फ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा से ही जीव को कर्मों का कर्ता माना गया है। परन्तु जीव के रागद्वेष रूप परिणामों के निमित्त से भी वे ही पुद्गल परमाणु कर्म बन पाते हैं जोकि कर्म रूप होने के सम्मुख हों बाकी तो बहुत से और ऐसे भी पुद्गल परमाणु हैं जोकि उन्हीं कर्म परमाणुओं के साथ मिलकर इस आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह हो रहे होते हैं जिनका नाम हमारी आगम भाषा में विस्त्रसोपचय है वे सब इस आत्मा के रागद्वेष को पाकर भी कर्म नहीं होते अर्थात् इसको सुख दुःख कारक नहीं हुआ करते। जैसे जल की बटलोंही में डाल कर आगी पर रक्खा हुआ भी अन्न ही सीझता है उसमें जो कङ्कर पत्थर हों वे नहीं सीझ पाते। वैसे ही -

विकृत बने हैं कर्मोदय को पाकर के यह अज्ञानी,
फाग खेलने लगता कामी लेकर होली की वानी।
इसका दैव इसे दुख देता है यों कहती जिनवाणी,
किन्तु न उससे विचलित होता है वह होता है ज्ञानी ॥६८॥

शुभाशुभ कर्मों के उदय को पाकर भी - जो संकल्प विकल्प में पड़ा हुआ होता है वह अज्ञानी जीव ही रागद्वेष युक्त होता है जैसे कि जो कामी पुरुष होता है वह होली को जली देख कर उसकी वानी को लेकर अपने सहयोगी के साथ में घूलण्डी करने लग जाता है परन्तु आशौच में लगे हुये आदमी का उधर कोई ध्यान ही नहीं होता वैसे ही जो ज्ञानी जीव होता है उसके उपर कर्मोदय होकर भी अपना कोई असर नहीं कर पाता उसके द्वारा विचलित होकर वह कुछ भी हर्षविषाद नहीं किया करता है। किन्तु जो दुनियांदारी में फंसा हुआ है जिस के उपयोग में से दैव का दैवपना अभी नहीं विकल पाया है तो उसको उसका कर्म सताये बिना नहीं रहता ऐसा भगवान का कहना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

जैसे युद्धस्थल में योद्धा लोग परस्पर लड़ते हैं,
फिर भी है लड़ रहा भूप यों व्यवहारी जन पढ़ते हैं।
ज्ञानावरणादिक कर्मों का कर्ता जीव कहाता है,
वैसे ही उपचार मात्र से किन्तु न तद्गुण पाता है ॥६९॥

देखो कि जहां पर दो राजाओं की आपस में अनबन होती है वहां उन राजाओं की सेना के लोग परस्पर लड़ा करते हैं परन्तु कहा यह जाता है कि राजा लड़ रहे हैं और इस कहने में यही हेतु है कि राजा उस सेना को अपनी समझ रहे हैं एवं सेना के लोग उस राजा के हुक्म से ही लड़ रहे हैं फिर भी सेना सेना ही है और राजा राजा ही। लड़ने वाली सेना है राजा नहीं। उसी प्रकार कर्म रूप परिणमन करने वाला पुद्गल है किन्तु वह जीव के रागद्वेष को निमित्त पाकर कर्म रूप में परिणत होता है बस इसीलिए जीव को कर्मों का कर्ता कहा जाता है। गाथा नम्बर १०६ और १०७ । उप सामीप्येन चरण मुपचारः निमित्त से होने वाली बात को बताना उपचार कहलाता है ।

रैयत के गुण दोषों का कर्ता राजा कहलाता है,
वैसे ही कर्मों का कर्ता जीव को कहा जाता है ।
क्योंकि बन्ध का कारण जो मिथ्यात्वाविरतिकषाय तथा
योग यों चतुर्भेद रूप परमागम में जिन की सुकथा ॥७०॥

मिथ्यात्वादि सयोगि भाव लों तेरह विध बतलाई है
गोमटसारादिक ग्रन्थों में इनकी गाथा आई है।
ये सह तनु सम्पर्क समुत्थित, तनु से ही जब नेह नहीं
इन्हें याद करने की नर के लिए बात फिर कहां रही ॥७१

किसी राजा की प्रजा को जब हम भली या बुरी पाते हैं तो उस पर से उस राजा को भला बुरा बतला दिया करते हैं क्योंकि समर्थ कहलाते हुए उसका सम्बन्ध प्रजा के साथ होता है इसलिये। बस तो इसी प्रकार व्यवहार से कर्म का कर्ता जीव माना जाता है मतलब यह कि कर्म बन्ध के करने वाले तो मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग ये चार हैं जिनके कि उत्तर भेद - मिथ्यात्व सासादन मिश्र अव्रतसम्यग्दृष्टि श्रावक प्रमत्तविरत अप्रमत्तविरत अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्म साम्पराय उपशान्तमोह क्षीणमोह और संयोग केवलि नामक तेरह गुणस्थान होते हैं जिनका कि वर्णन गोमट्टसार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****
वगैरह में विस्तार से किया हुआ है। जोकि पूर्व परम्परा से चला आया हुआ है। ये कर्मबन्धक भाव, आत्मा और शरीर इन दोनों के सम्पर्क से होने वाले संयोगज भाव हैं। न तो अकेले आत्मा के ही है तो न अकेले शरीर पुद्गल के ही। अब उन दोनों में से आत्मा चेतन विचारशील है समर्थ है अतः उभयसंयोगज होने पर भी उनको आत्मा के बताना न्यायोचित बात है जैसे कि सन्तान होती है वह स्त्री और पुरुष दोनों की संयोगज चेष्टा से हुई अतः दोनों की है फिर भी उसको पुरुष की बतलाया करते हैं पूछा जाय कि यह किस का लड़का है तो कहा जाता है कि फलानचन्द का, यह नीति है। परन्तु वह जब अपने खाने, पीने, पहरने, ओढने के लिये मांग कर परेशान करने लगता है तो उससे उबिया कर आदमी कह दिया करता है कि - जा चला जा एक तरफ हो मेरे से क्या मांगता है अपनी अम्मा के पास जा जिस ने तुझे पैदा किया है और जब कि वह ज्यादा ही तङ्ग आता है तो कहने लगता है कि किसका लड़का, किस की स्त्री, सब अपने मतलब के हैं मेरा कौन है। उसी प्रकार जब वह आत्मा वैराग्य सम्मुख होता है तो रागादिक सब शरीराश्रित ही प्रतीत होने लगते हैं और जबकि उसको शरीर से भी कुछ भी ममत्व नहीं रह पाता तो फिर उसकी दृष्टि में रागादि भाव चीज ही क्या रह जाते हैं? कुछ भी नहीं। यही बात गाथा नं. १०८ से लेकर ११२ की तात्पर्य वृत्ति टीका की गई है वहां भी है देखो - जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्ना मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरुपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः परमार्थतः पुनरेकान्तेन न जीवरूपा न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्। वस्तुतस्तु सूक्ष्म शुद्धनिश्चयनयेननसन्त्येवतेयतः किलाज्ञानोद्भवाः कल्पिता इति। एतावता विमुक्तंभवति येकेचनवदन्तिकिलैकान्तनरागादयो जीवसम्बन्धिनो पुद्गलसबन्धिनो वतदुभयमपिवचनंमिथ्या। कस्मादितिचेत्पूर्वोक्त स्त्री पुरुष दृष्टान्तेन संयोगोद्भवत्वात् मतलब यही कि क्रोधादि को केवल जीव के परिणाम बताने वाले झूलते हैं उसी प्रकार उन्हें पौद्गलिक मानने वाले भी मिथ्यादृष्टि हैं किन्तु -

है चैतन्य अनन्य जीव में जोकि सदा का सोता है,
क्रोधादिक परजन्य भाव यों कभी कभी जो होता है।
कर्म और नोकर्मनिमित्तक ही होते हैं कोपादि,
उनसे भी फिर वे होते हैं यों कहता है स्याद्वादी ॥७२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ******************************

अर्थात् अग्नि में उष्णपने की भांति जीव का अनन्य सहज परिणाम तो चेतनत्व है,देखना और जानना है जोकि आत्मा में सदा बना रहता है। क्रोधादिक भी होते तो आत्मा में ही हैं परन्तु वे कभी क़भी होते हैं अतः आत्मा के सहज भाव न हो करके परनिमित्त से होने वाले भाव है। कर्म एवं नोकर्मो को निमित्त लेकर वे सब हुआ करते हैं और उनको भी निमित्त लेकर फिर कर्म और नोकर्म बनते हैं। यह स्याद्वाद मतावलम्बीं का कहना है जो कि हम पहले भी बता आये हैं। सारांश यह कि ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म जोकि पौद्गलिकहैं उनका कर्ता तो यह जीव अनुपचरित रुप असद्भूत व्यवहारनय से होता है किन्तु रागादिक भाव कर्मों का कर्ता अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से । बाकी जब शुद्धनिश्चयनय पर पहुँचा जाय तो वहां पर यह आत्मा न तो कर्मों को कर्ता ही है और न भोक्ता ही। जिस शुद्धनय को लेकर अशुद्धनिश्चय को भी अध्यात्मभाषा में व्यवहार ही कह दिया जाता है फिर इसका सीधा सा अर्थ यह हो जाता है कि व्यवहार में जीव कर्मों का कर्ता भोक्ता है किन्तु निश्चय में नहीं । यो दोनों ही नय सापेक्ष होकर अपना अपना कार्य करती है अन्यथा तो निश्चय और व्यवहार दोनों ही गलत ठहरती है जैसा कि निरेपक्षानया मिथ्यासापक्षेपा वस्तु तेऽर्थकृत इस स्वामिसमन्त भद्र के वचन से स्पष्ट है । अगर व्यवहार को गलत समझ कर निश्चय को ही ठीक माना जाय तो आत्मा का क्रोधादि रूप परिणमन सिद्ध न होकर संसार का अभाव ही सर्वथा आप्राप्त हो जो कि स्पष्ट प्रत्यक्ष विरुद्ध ठहरे जैसा कि गाथा नं. ११३, ११४ और ११५ की तात्पर्यवृत्ति में भी लिखा है- द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वंभोत्कृत्वं चानुपचरितामद्भूत व्यवहारनयेन रागादि भावकर्मणां चाशुद्धनिश्चयेन। स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एवेति किञ्च। शुद्दनिश्चयापेक्षया जीवस्या कर्तृत्वमभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्योभिन्नंत्वं च भवती तिव्याख्याने कृतेसतिद्वितीय पक्षे व्यवहारेण कतृत्वंभोक्तृत्वं च कोधादिभ्यश्चाभिन्नत्वं च लभ्यत एव। कस्मात। निश्चय व्यवहारयोः परस्पर सापेक्षत्वात् । कथमितिचेत् । यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्त इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धमेव। ये पुन रेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यन्ते सांख्यसदाशिवमतानुसारिण स्तेषांमते यथा शुद्ध निश्चयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नोभवति तथा व्यवहारेणापि । ततश्च क्रोधादि परिणामनाभावेसति सिद्धानामिव कर्मबन्धाभावः । कर्मबन्धाभावे संसाराभावः संसाराभावे सदामुक्तत्वं प्राप्नोति स च प्रत्यक्ष विरोधः संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्य मानत्वात् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

शङ्का – व्यवहारनय है तो सही परन्तु उसका अनुयायी तो मिथ्यादृष्टि ही होता है सम्यग्दृष्टि तो निश्चयनय का आश्रय लेने पर ही होता है ऐसा श्री समयसार जी में ही कहा है और निश्चय तथा व्यवहार दोनों का आश्रय एक साथ हो नहीं सकता क्योंकि उन दोनों में परस्पर विरोध है ऐसा हमने वस्तु विज्ञानसार में पढ़ा है देखो व्यवहारनय का स्वरूप पृ. ८५, निश्चय और व्यवहार दोनों के बीच परस्पर विरोध पाया जाता है इसे वह अज्ञानी नहीं जानता और न उधर रुचि ही करता है तथा व्यवहार का निषेध करके निश्चय में वीर्य को उल्लसित भी नहीं करता। निश्चय के आश्रय का उल्लास न होने से बीच में व्यवहार आता है उसका खेद न करके कह दिया करता हैं कि व्यवहार तो बीच में आयेगा ही। और इस प्रकार मिथ्या दृष्टि के व्यवहार की गहरी सूक्ष्म मिठास विद्यमान रहती है इसलिए वह अपने स्वभाव में उल्लसित होकर सम्यग्दृष्टि नहीं होता ।

उत्तर – भैया जी हमारे प्राचीन किसी भी जैनाचार्य का तो कहना ऐसा है नहीं जैसाकि तुम समझ रहे हो । देखो कि श्री समयसार जी के आत्मख्याति टीकाकार अध्यात्मरसिक श्री अमृतचन्द्राचार्य ही क्या लिख रहे हैं –

उभयनयविरोधध्वंसिनिस्यात्पदों के जिनवचसिरमन्ते ये स्वयंवान्तमोहाः
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्ण मीक्षन्त एव ॥४॥

अर्थात् – निश्चय और व्यवहार रुप जो दो नय हैं उनमें अपने अपने विषय के भेद से परस्पर विरोध प्रतीत होता है। क्योंकि निश्चयनय पदार्थ को सद्रुप एक और नित्य बतलाता है तो व्यवहारनय उसी को असद्रूप अनेक तथा अनित्य इत्यादि। इसी विरोध को जो अपने स्यातपद के प्रभाव से बिल्कुल मिटा देने वाला है ऐसे जिनशासन में जो लोग रमण करते हैं वे लोग सहज से ही मिथ्यात्व का वमन कर निर्मोह होते हुए शीघ्र ही समयसार को अर्थात् शुद्धात्मा को प्राप्त हो लेते हैं जोकि समयसार सदाविद्यामान रहने वाला परम प्रकाश मान है और सर्वथा एकान्तरूप कुनयपक्ष के द्वारा जिसका कभी खण्डन नहीं हो पाता है। हां यह अवश्य है कि सम्यग्दृष्टि जीव जब सरागता से वीतरागता की ओर ढलता है तो वस्तु में होने वाले भेदभाव को दबा कर अभेद को स्वीकार करता चला जाता है किन्तु जब तक सरागता में रहता है अथवा कदाचित् कर्मों का सताया हुआ क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी उपशान्तकषाय रूप वीतराग से भी सरागता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर आता है तो अभेद को गौण करके वापिस भेद पर निगाह लगाता है अस्तु। अब यहां पुद्गल की परिणमनशीलता बताते हैं –

कर्म क्या करे कर्मों को तो चेतन ही उपजाता है.
जैसे मिट्टी को कुलाल ही मटकी कर दिखलाता है।।
ऐसा कहना ठीक नहीं है दूरदर्शिता के नाते.
पढ़ने लायक नहीं उसे फिर कहो कि कौन पढ़ापाते ।।७३।।

होते को यदि किया तो उसमें कहो कि हमने कहाकिया,.
चलते इक्के को ठोकर दे कौन कहे जो चला दिया।
कर्मों में हे प्रियवर? खुद की अगर नहीं कुछ ताकत है।
शुद्ध सच्चिदानन्द कहो फिर इस तनु में क्यों दुःखसहे ।।७४।।

जीव बिना ही पुद्गल में यदि कर्म भाव आ जाता हो,
तो फिर भस्मादिक सब चीजें सबको ही दुख दाता वो ।
इसीलिये स्याद्वाद नाम की विद्या यहां काम आती,
महावीर के शासन में जिसकी कथनी पाई जाती ।।७५।।

लोग कहा करते हैं कि कर्म हमें दुःख दे रहे हैं परन्तु कर्म तो जड़ हैं वे सब इस जीव का क्या बिगाड़ सकते हैं कहीं कोई मुर्दा भी किसी का कुछ बिगाड़ सुधार कर सकता है क्या? कुछ नहीं। गलती इसी की है कि इसने उन्हें अपने पीछे लगा रक्खा है इसी से यह सुखी दुखी बनता है । जैसे कि कुम्हार मिट्टी के घड़े बना लिया करता है और उनसे अपनी आजीविका करके पेट पालता है एवं उनमें कोई घड़ा टूट जाय तो रोने भी लगता है परन्तु मिट्टी का इस में क्या गुण दोष है ? मिट्टी तो मिट्टी ही है । उसी प्रकार कर्म हैं उनका करना और न करना तो सर्वथा इस जीव के हाथ में है। इस पर आचार्य महाराज कहते है कि भाई तुम्हारा कहना किसी अपेक्षा से तो ठीक है किन्तु इसमें रहस्य है और वह यह है कि उन कर्म परमाणुओं में तादृश योग्यता होती है तभी तो जीव की चेष्टा के द्वारा वे सब कर्म रूप में आते हैं पढ़ाने वाला पढ़ाता है परन्तु उसे ही पढ़ा सकता है जो कि पढ़ने लायक हो। राम २ तोते को ही रटाया जाता है बगले को नहीं। नहिस्व तोऽसतीशक्तिः कर्तुमन्येनपार्यते, यह एक सुप्रसिद्ध बात है । इस पर यदि कहा जाय कि कर्म परमाणुओं में स्वयं ही वैसी शक्तिहै तो फिर जीव को उनका कर्ता मानने की आवश्यकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ *********************

ही क्या है। जैसे कि गाड़ी में बैठा हुआ बालक चलती हुई गाड़ी को ठोकर देकर कहा करता है कि देखो गाड़ी को मैं चला रहा हूं तो यह उसका कहना निरा बालकपन है वैसे ही कर्म अपनी योग्यता से ही कर्म होते हैं तो जीव को उनका कर्ता मानना व्यर्थ ही है । परन्तु ऐसा नहीं है। जीव अपने राग द्वेष परिणामों के द्वारा उन्हें उपार्जन करता है और कर्म परमाणुओं में तादृश योग्यता है तब वे होते हैं। विवक्षित कार्यरूप अवस्था से पूर्व अवस्था का नाम योग्यता है जो कि उत्तर काल में कार्य रुप में परिणत होती है उसी को उपादान कारण भी कहते है।

शङ्का – व्यवहार नय की अपेक्षा में आप कहते हो वैसा ही है परन्तु निश्चयनय से जब कहे तब तो वर्तमान पर्याय स्वयं ही कारण है और स्वयं ही कार्य ऐसा कहना ठीक है कि नहीं ?

उत्तर – भैया जी निश्चनय जब पर्याय को विषय करनें वाला ही नहीं, वह तो द्रव्यार्थिक होता है उस की दृष्टि में पर्याय जब कोई चीज ही नहीं तो फिर निश्चयनय से वही पर्याय कारण है और वही कार्य भी यह कहना कैसा। निश्चय से तो कहे तो वहां शुद्ध निश्चय में तो कार्य कारण ही कोई चीज नहीं किन्तु स्थूल निश्चय में भी अगर कहें तो ऐसा कहना चाहिये कि वही द्रव्य कारण और वही द्रव्य कार्य होता है। किन्तु उसका भी यही मतलब होता है कि द्रव्य अपनी पूर्व पर्याय के रूप में उपादान कारण होता है और अपनी उत्तर पर्याय के रूप में कार्य।

पैदा होने वाले को कार्य कहते हैं और जिससे वह पैदा हो उसको कारण कहा जाता है ऐसी हालत में दोनों एक कैसे हो सकते हैं पहले और पीछे वाले ही होवेंगे।

शङ्का – आचार्यों ने तो अनेक जगह ऐसा ही कहा है कि निश्चयनय की दृष्टि में वही तो कारण है और वही कार्य भी।

उत्तर – हां पूर्वाचार्यों ने ऐसा तो जरूर कहा है कि निश्चयनय की विवक्षा में वही कारण और कार्य होता है किन्तु ऐसा कभी नहीं कहा कि वही पर्याय तो कारण है और वही पर्याय कार्य भी । क्योंकि निश्चयनय पर्याय को विषय करने वाला ही नहीं। वह तो द्रव्य को अर्थात् सामान्य को ग्रहण करने वाला है और सामान्य रुप में वस्तु कभी बदलती ही नहीं वही रहती है । परिवर्तन तो उसमें पर्याय द्वारा हुआ करता है जो कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पैदा भी होती है और नष्ट भी। जिसको कि व्यवहारनय ही स्वीकार करता है अतः कार्य कारण भाव व्यवहारनय से ही होता है। उसको होते हुये भी द्रव्य वह का वही रहता है जो कि निश्चयनय का विषय है परन्तु उसमें जो पर्याय नई पैदा होती है वह कार्य तथा उससे पहले वाली पर्याय उसका उपादान कारण होती है। और उस कार्य के होने में जो कोई पदार्थ मददगार होता है उसको निमित्त कहते हैं इन दोनों प्रकारों की हर कार्य में जरुरत होती है उसी प्रकार पुद्गल परमाणु जो कर्म रूप बनते हैं वे सब अपनी योग्यता उपादानरूप शक्ति के द्वारा ही होते हैं किन्तु होते हैं जीव के रागद्वेष को निमित्त लेकर, उसके बिना नहीं होते। अन्यथा तो भश्मादिक सभी पुद्गल सभी जीवों को अनायास दुःखदायक होने लग जावें। एवं च सदा सभी जीव एक से कर्मों से युक्त मानने और जानने में आने चाहिये अतः उस जीव के रागद्वेष के अनुसार उस जीव के कर्म बनकर उसे दुःखदायक होते हैं यही मानना पड़ता है। फिर भी कर्म सर्वथा जीव के ही वशवर्ती हों अपनी कोई भी ताकत नहीं रखते हों सो बात भी नहीं है क्योंकि अगर ऐसा ही हो तो यह जीव इस देह में पड़ा-पड़ा क्यों दुःख सहन करे। सर्वसाधारण संसारी को तो थोड़ी देर के लिये रहने दो किन्तु ग्यारहवें गुण स्थान का वीतरागी जीव भी वापिस बलात् नीचे को आ जाता है सो क्यों आवे।

जीव क्या करे कहो जीव को तो यह कर्म दबाता है,
ज्यों खिलाड़ का डगडेरु बन्दर को खूब नचाता है.
ऐसा कहना भी न ठीक है दूर दर्शिता के नाते,
जो न नाचने लायक उसको कहो कि कौन नचापाते ॥७६॥

स्वयं नाचते हुये को नचाने के लिये वृथा श्रम है,
किन्तु देखते हैं कि सदा से लोगों में नाना क्रम है।
है सराव को बल से होता तो सराविया मतवाला,
फिर भी कहोकि क्यों नहि होता बैसा ही उसका प्याला ॥७७॥

इस पर दैववादी को मौका मिल गया वह कहने लगाकि ठीक तो है यह संसारी जीव विचारा क्या करे इसको इसका कर्म जिस प्रकार चलाता है उसी प्रकार इसे परवश होकर चलना पड़ता है जैसे कि बाजीगर के डगडेरु के इशारे पर बन्दर नाचा करता है। किन्तु विचारने से यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बात भी ठीक प्रतीत नहीं होती क्योंकि हारमोनियम पर भी गाने वाला ही गाया करता है हरेक नहीं गा सकता। और जब गाने वाला ही गाता है तो हारमोनियम क्या करता है उसे गवाने वाला मानना व्यर्थ ठहर जाता है वैसे ही जीव भी अपने अपने परिणामों के अनुसार सुख दुःख भोगता है जैसे कि एक कुटुम्ब में लड़का हुआ तो लड़का होने रूप कर्म का उदय तो उन कुटुम्बियों के सबके एक सा हुआ परन्तु हर्ष या विषाद अपने अपने विचारों केअनुसार भिन्न भिन्न होता है ऐसी हालत में जीव के सुख दुःख में कर्म को ही कारण मानना गलत ठहरता है। पर फिर भी कर्म जो है वह किसी भी तरह कोई कारण ही जीव के सुख दुःख में बिल्कुल नहीं है यह मानना भी भूल भरा है क्योंकि ऐसा मानने पर जो यह नाना प्रकार का संसार बन रहा है वह कोई चीज न ठहरे। अतः उपादान के रूप में कर्म और आत्मा दोनों अपने अपने अधीन स्वतन्त्र हैं किन्तु निमित्त के रूप में आत्मा कर्मों का कर्ता है और कर्म आत्मा का कार्य एवं दोनों एक दूसरे के अधीन हैं इस प्रकार जैन धर्म की स्याद्वाद शैली को अपनाये बिना काम नहीं चल पाता। देखो कि शराब पीकर के ही आदमी मतवाला बनता है उसके मतवालेपन के लिये शराब अनिवार्य कारण है किन्तु वही शराब पियाले में चाहे कितनी ही देर भरी रहे उसमें मतवालापन नहीं आता क्योंकि वहां उपादान नहीं है। यही समयसार जी के गाथा नं. ११६ से लेकर १२५ तक में बतलाया गया है।

अपने ही अज्ञान भाव से बन्धा जीव दुख पाता है
अपने आपे में आने से चिदानन्द बन जाता है।
शुक नलिनी पर आकर जैसे अपने को लटकाता है,
याद करे अपने गुण को तो झट नभ में उड़ जाता है ॥७८॥

यदि वस्तुतः देखा जाय तो यह जीव अपने अज्ञान भाव के द्वारा ही कर्मों के फन्दे में पड़ा हुआ है और दुःख पा रहा है अगर पर पदार्थों में लुभाने रूप अज्ञान को छोड़ कर अपने आपे में आ जावे तो फिर सच्चिदानन्द बना हुआ ही है कोई भी कष्ट नहीं रह पाता। जैसे एक तोता यदृच्छया आकर नलिनी पर बैठ जाता और उसे पकड़ लेता है तथा सहज रूप में नलिनी के घूम जाने से उस पर लटका रहता है, सोचता है कि इसने मुझे पकड़ लिया है सो यह उसका अज्ञान ही है यदि वह अपने गगन गमनपने को याद करे तो झट उड़ जावे। इसी प्रकार यह मनुष्य भी कहा करता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि भाई हम तो दुनियांदारी में फंसे हुये हैं हमारे पीछे ऐसी झंझटें लगी हुई हैं जो कि हमें पलभर के लिये भी भगवद् भजन नहीं करने देती इत्यादि। बाकी ऐसा है नहीं अपितु इसी ने उन्हें अपने दिल से अपना रक्खी है यह चाहे जब छोड़ सकता है। गाथा नं. १२६ और १२७।

जब तक ही अज्ञानी बन पर में संकल्प विकल्प करे,
कर्मों का कर्ता होकर के उनका फल संसार धरे।
आत्मा परमात्मा बन जावे जब कि उदासीनत्व ठने,
परम समाधि लीन होकर के कारण से ही कार्य बने ।।७९।।

जब तक कि यह पर पदार्थों को ही अपना और पराया समझ कर उन में भला बुरापन मानता रहता तभी तक अनेक प्रकार कर्मों को कर्ता हुआ हो करके आत्मा इस संसार में फंसा रहता है। अगर यह समझले कि मैं तो इन सब से निराला सच्चिदानन्द हूं, मेरा इन सब में क्या है एवं किसी को भी भला बुरा न कह कर उन सब से दूर हट कर उदासीन बन जाय और इस प्रकार महात्मा कहला कर परम समाधि में लीन होले तो फिर शीघ्र ही आत्मा से परमात्मा बन जावे । परमात्मा बनने का साक्षात् उपादान कारण परम समाधिमय होना ही है और कारण से ही कार्य बनता है।

शङ्का - आप जब कहते हो तभी कारण को भिन्न और कार्य को भिन्न बतलाते हो जैसा कि पूर्वपर्याय उपादान कारण और उत्तर पर्याय उसका कार्य ऐसा पहले भी आप कह आये हो सो यह कहना तो व्यवहारनय की अपेक्षा से हो सकता है परन्तु निश्चयनय से तो वर्तमान पर्याय स्वयं ही कारण है और स्वयं ही कार्य भी यह ऐसा कहना ठीक है कि नही !

उत्तर - भैय्या जी निश्चयनय जब कि पर्याय को विषय करने वाला ही नहीं वह तो द्रव्यार्थिक होता है । उसकी दृष्टि में पर्याय जब कोई चीज ही नहीं तो फिर निश्चयनय से वही पर्याय कारण और वही पर्याय कार्य है यह कहना कैसा ! निश्चय से तो यदि कहें तो खास निश्चयनय की दृष्टि में तो कार्य कारण भाव होता ही नहीं वहां तो त्रैकालिक एक अखण्ड द्रव्य है । किन्तु स्थूल निश्चय में भी अगर कहें तो ऐसा कहना चाहिये कि वही द्रव्य कारण और वही द्रव्य कार्य होता है । एवं च इस कहने का भी मतलब वही है कि द्रव्य अपनी पूर्व पर्याय के रूप में उपादान कारण और अपनी उत्तर पर्याय के रूप में कार्य होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ***********************

सहज परिणमनशील दीखती हैं चीजें जग की सारी,
फिर भी सन्तानत्व रहित उनका न काम होता जारी ।
लोहे से कडाह सोने से कुण्डल आदिक बनते हैं,
अज्ञानी संसार रूप ज्ञानी शिवमय परिणंमते हैं ।।८०।।

लोहा और सोना ये दोनों द्रव्यत्व के नाते यद्यपि एक हैं फिर भी लोहे से बनने वाली अञ्जिन, बंदूक वगैरह लोहे से ही बनती हैं और मुकुट, कुण्डल वगैरह सोने से । वैसे ही जीवत्व के नाते अज्ञानी और ज्ञानी दोनों एक हैं तो भी अज्ञानी (अभव्य) जीव के परिणाम, मिथ्यात्वादि रूप होकर नर नारकादि रूप पर्यायों के सम्पादक होते हैं किन्तु ज्ञानी (आसन्नभव्य) जीव के परिणाम, सत्यश्रद्धानादि रूप होकर मुक्तिदायक होते हैं। मतलब भव्यात्मा अपने सम्यक श्रद्धानादि के द्वारा भले ही उसी भव से मुक्ति प्राप्त न कर पावे फिर भी वह उस अपने ज्ञान भाव के द्वारा स्वर्ग में जाकर सौधर्मेन्द्र लौकान्तिक जैसा महर्द्धिकपद प्राप्त करेगा और वहां अन्तर्मुहूर्त में मतिश्रुत और अवधिज्ञान की व्यक्तता को प्राप्त होकर उस प्राप्त हुई अपनी अपूर्व विभूतिको भी जीर्ण तृण के समान निस्सार समझ कर उसमें अननुमन होता हुआ विदेहादि में जाकर समवशरण में विराजमान श्री जिनेन्द्र भगवान- वगैरह के दर्शन करके सन्मार्ग में और भी दृढ़ हो जायेगा। एवं चौथे गुणस्थान के योग्य शुद्ध भावना को निरन्तर हृदय से अपनाता हुआ धर्म ध्यान में अपना समय बितावेगा। फिर वहां से आकर महाराजाधिराज माण्डलिक बलभद्र चक्रवर्ति तीर्थंकर जैसे पद को पाकर यहां पर भी पूर्व भवसम्पादित शुद्धात्म भावनारूप संस्कार की वजह से रामचन्द्रादि की तरह से अनतिमुग्ध होकर रहेगा और अन्त में जिनदीक्षा लेकर सभी तरह के पुण्य पाप परिणाम से रहित होते हुए अभेदरत्नत्रय स्वरूप परमशुक्ल ध्यानरूप समाधि को प्राप्त होकर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेगा किन्तु अज्ञानी जीव तो अपनी दुर्वासना के द्वारा नरक और पशु पर्यायों में ही घमूता रहता है। अगर कहीं देव या मानव पर्याय भी पाता है तो वहां पर भी विषयों में फंस करके वापिस नीचे की ओर आ जाता है। गाथा नं. १३० और १३१। अब आगे पाँच गाथाओं में अज्ञान के प्रकार का वर्णन किया हुआ है सो नीचे बतलाते हैं –

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ****************************

परको अपनाने स्वरूप अज्ञान भाव यों भेद धरे,
पहिला तो मिथ्यात्व न जिससे आत्मतत्व सत्कार करे।
आत्मतत्व पर हुआ भरोसा किन्तु न हटना विषयों से,
यही दूसरा भेद जानिये जो कि असंयम को पोषे ॥८२

संयम को धारण करके भी जो उपयोग न शुद्ध बने,
रहे शबलता परिणामों में भेद तीसरा जहां ठने।
चौथा भेद योग देहादिक के निमित्त से विचलपना,
शुभ या अशुभ दो तरहं का होता है वह भी हे सुमना ॥८२॥

जो व्रतादि कर्तव्य रूप हो वह तो शुभ कहलाता है,
उससे उलटा वही अशुभ होता है जो दुखदाता है।
ये जब चेतन में होते हैं तो ज्ञानावरणादि दशा,
कर्म वर्गणा की होती है ज्यों रवि से पयोज विगसा ॥८३

यथा विपाकोदय है चेतन भी तन्मय हो दुख सहता है,
यावत उपशमादि नहि होवे तावत् यह क्रम रहता है।
एक समय का वंधा कर्म यावत्तिथि फल दिखलाता है,
प्रतिपल कर्म बन्धे यों बहुपल कृतविधि समुदय पाता है॥८४॥

सत्तागतकर्मों का संक्रमणादिकहोतारहता है,
यों मन्दोदय हो तब चेतन उन्नति का पथ गहता है।
सत्सङ्गति से तत्वाभ्यासी हो मोह को दबाता है,
तो यह चेतन ज्ञानी बन करके स्वतन्त्र हो जाता है ॥८५॥

सामान्यपने से पर पदार्थों को अपने उपयोग में अपनाये हुए रहने का नाम अज्ञान भाव हैजिसके मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग के नाम से उत्तर भेद चार होते हैं। मिथ्यात्व तो वह कहलाता है जिससे कि यह जीव अपने आपके स्वरूप को ही नहीं समझ पाता शरीर को ही आत्मा मानता रहता है अतः वहिरात्मा होता है जिसे आमतोर पर मिथ्या दृष्टि कहा करते हैं। दूसरा भेद अविरति या असंयमभाव वह होता है जिससे कि यह आत्मा आत्मतत्व को मान कर उस पर भरोसा करते हुए होकर भी विषय सेवन से दूर नहीं हो पाता। तीसरा भेद कषाय भाव है जिससे कि विषय भोगों से दूर हट कर भी इस जीव के परिणामों में गदलापन बना रहता है स्वच्छता नहीं होती यथाख्यात चारित्र नहीं हो पाता। चोथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

भेद योगभाव है जिस से कि मन, वचन और शरीर के निमित्त से आत्मा में चञ्चलता होती रहती है। वह शुभ अशुभ के भेद से दो प्रकार की होती है । जो व्रतादि कर्तव्य परायणता रूप में प्रवृत्ति होती है वह शुभ कहलाती है। दूसरी उससे उलटी अव्रतादिरूप यद्दच्छावृत्तिको लिए हुए होती है। शुभयोगप्रवृत्ति पुण्यबन्ध का कारण होकर सांसारिक सुख देने वाली और अशुभयोग प्रवृत्ति पाप बन्ध करके दुःख दायक बनती है । उपर्युक्त चारों ही प्रकार का अज्ञानभाव इस जीवात्मा में समय २ पर होता रहता है जिसको कि निमित्त लेकर कर्मवर्गणा ज्ञानावरणादि के रूप में परिणत होती रहती हैं और इस जीव के साथ बन्धती रहती है जैसे कि सूर्य के उदय को पाकर कमल खिल उठते हैं। और जैसा जैसा मन्दमध्यमादिरूप उनका विपाकोदय होता रहता है उसके साथ तन्मयता धारण किये हुए यह संसारी वैसा ही रागादि रूप होकर दुःख सहन करता है । एवं जब तक इस आत्मा को उपशमादि भावों की प्राप्ति नहीं होती तब तक यही क्रम जारी रहता है। हां यह बात जरुर है कि इस जीव के रागादि परिणामों को लेकर जो कर्म एकसमय में बन्धता है वह अपने आवाधाकाल के बाद जितनी कि उस की स्थिति होती है निरन्तर उदय में आता ही रहता है और समय समय नूतन कर्म का बन्ध होता ही रहता है एवं अनेक समय का बन्धा हुआ कर्म मिलकर एक समय में उदय में आता है। उदायवली में प्राप्त कर्म को छोड़ कर बाकी सत्ता में स्थित कर्मों में संक्रमण (सात का असातरूप और असात का सात रूप हो जाना) वगैरह भी यथा सम्भव आत्मपरिणामों के अनुसार होते रहते हैं। इसीलिए कर्मों का उदय कभी तीव्र कभी मन्द बन जाता है। जब चोमासे की नदी के बहाव की तरह कर्मों का उदय तीव्र होता है उस समय इस आत्मा का उद्योग कुछ काम नहीं आता परन्तु ग्रीष्मकालीन नदी के बहाव सरीखे मन्दोदय केसमय अगर यह अपनी भलाई का प्रयत्न करता है तो उन्नति कर जाता है। वह प्रयत्न यह कि सत्समागम में आकर जैनागमविहित तत्वोंका अभ्यास करे ताकि इस का मोह मन्द होवे ।

शङ्का - जिस जीव को जिस देश में जिस काल में जिस विधि से जो कुछ जन्म मरण, सुख-दुःख रोग दारिद्रय इत्यादि जैसे सर्वज्ञ देव ने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाने हैं उसी प्रकार वे सब नियम से होंगे उसको कोई भी देव, दानव, इन्द्र या जिनेन्द्र भी और तरह नहीं कर सकता ऐसा स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है -

जं जस्सजम्मिदेसेजेणा विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादंजिणेणाणियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ।।३२१।।
तंतस्सतम्मिदेसे तेणविहाणेण तम्मि कालम्मि।
कोस कई चालेदुं इन्दो वा अह जिणिन्दो वा ।।३२२।।

और इसका मान लेना एक सम्यगदृष्टि भले आदमी के लिए जरुरी है फिर प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता रह जाती है जो होगा सो तो होगा ही।

उत्तर - भैया जी उपर की गाथाओं में लिखा है वह तो ठीक ही लिखा है कि जो कुछ जैसा हो गया, जैसा होगा और जैसा हो रहा है उसको सर्वज्ञ का ज्ञान जानता है परन्तु कर्ता कौन है? क्या कर्ता भी सर्वज्ञ का ज्ञान ही है? अगर हां तब तो फिर ईश्वर कर्तृकत्ववादियों ने क्या अपराध किया है वे सब जो कहते हैं सो ठीक ही ठहरता है परन्तु कर्ता उसका वह है जिसका कि वह कार्य होता है सर्वज्ञ का ज्ञान तो सिर्फ उसे जानतां है। एवं कार्य करने वाला अपने कार्य को किसी भी प्रकार की खराबी से बचाकर उसे वह अच्छी तरह से करना चाहता है यही उसकी कर्तव्यशीलता है। फिर भी होता वही है जैसा कि जहां समर्थ कारण कलाप होता है। अतः जो कार्य कर्ता की ही भावना के अनुकूल होता चला जा रहा हो वह तो ठीक ही है किन्तु जहां पर कि कार्य और रूप में निष्पन्न होता प्रतीत होता है वहां पर यह भावना भाई जाती है -

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
और रूप नहि होय सयाने काहे होत अधीरा रे ।।अस्तु१।।

अब साधारण तौर पर जीव दो तरह के होते हैं एक दुनियांदारी की ओर जाने वाला दूसरा परमार्थ की तरफ ढलने वाला। उसमें से दुनियांदारी का जीव परमार्थ कार्य को नियति के भरोसे पर छोड़ कर वैषयिक बातों पर डटा रहता है किन्तु दूसरा इसके विपरीत सांसारिक कार्यों को नियति पर निर्भर मान कर आत्महित में तत्पर हो लेता है। जैसा कि - स्वयं

१. इससे आत्मा को अपने कर्तव्य में पुरुषार्थ प्रगट होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

कानजी के वस्तु विज्ञानसार में भी लिखा है देखो - पृष्ठ नं. १३ जो मानता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान दशा आत्मा के पुरुषार्थ के बिना होती है वह मिथ्यादृष्टि है।

ज्ञानी प्रतिक्षण स्वभाव की पूर्णता के पुरुषार्थ की भावना करता है मतलब यही कि परमार्थीजीव सत्सङ्ग मे आकर सद्गुरु के समागम से तत्वाभ्यास करने में लगा रहता है यही उसके चारे की चीज है इसके बाद तो किसी को तत्काल और किसी को कुछ देरी में जब तादृशद्रव्य क्षेत्र काल आप्राप्त होताहै तो मोह गल कर वीतराग एवं पूर्ण ज्ञानी हो लेता है अब आगे मोह रागद्वेष ये क्या है सो स्पष्ट करते हैं -

जीव और पुद्गल दोनों के बने हुए रागादिक हो,
तो फिर दोनों में ही क्यों नहि होते क्या है बात कहो।
जीव अकेले के यदि तो क्यों कर्मोदय के बिना न हो,
उपादान चेतन सहकारी जड़ यों इसमें भेद अहो ॥८

मतलब यह कि रागद्वेषादि परिणाम यद्यपि जीव और पुद्गल दोनों परस्पर संयोग से होने वाले भाव हैं फिर भी चूना और हलदी के से होने वाली रोली की तरह उन सब में दोनों का एक सा हाथ है। अन्यथा तो फिर वे सब भाव जिस प्रकार जीव में पाये जाते हैं ही पुद्गल में भी होने चाहिये किन्तु पुद्गल में न हो कर जीव में ही हैं। तो फिर क्या अकेले ही जीव के हैं ऐसा भी नहीं है क्योंकि क के उदय के बिना शुद्ध सिद्ध जीवों में इनका होना नहीं पाया जाता होते तो ये जीव ही में है किन्तु कर्मोदय के निमित्त से होते हैं उपा इन रागादिक भावों का जीव है और सहकारी कारण जड़ कर्मों का इसी प्रकार -

पुद्गल और जीव दोनों से बने हुए यदि कर्म कहो,
तो फिर दोनों में ही क्यों नहि कर्मभाव क्या बात अहो।
यदि जड़ के ही हों, चेतन कृत रागादिक के बिना चहो,
उपादान जड़ सहकारी चेतन इसमें भेद गहो ॥८

कर्मों का उपादान पुद्गल द्रव्य होता है और उनके होने में जीव रागद्वेष भाव निमित्त हैं क्योंकि उनके बिना पुद्गल परमाणु कभी कर्म नहीं बनते। बस इसीलिये -

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

कर्म जीव के साथ लगे हैं यों संसर्गतया व्यवहार,
जड़ कर्मों से जुदा जीव यह सदा शुद्धनय का सत्कार ।
एक तरह से बद्ध दूसरी तरह अवद्ध शोचना भी.
है विकल्प इन सबसे ऊपर होता समयसार नाभी ॥८८॥

जीव के साथ कर्मों का संसर्ग संयोग सम्बन्ध बना हुआ है इसलिये व्यवहारनय तो जीव को कर्मों से बन्धा हुआ बतलाया करता है। परन्तु उन्हीं कर्मों का जीव के साथ में तादात्म्य बिल्कुल भी नहीं है अतः शुद्धनय की दृष्टि में यह जीवात्मा सदा ही कर्मों से रहित शुद्ध ही है। ये दोनों ही नयपक्ष हैं और इनमें आत्माका वास्तविक पूरा रूप दोनों में ही नहीं आता। इस पर अगर कहां जाय कि जीव व्यवहार अपेक्षा कर्मों से बद्ध और निश्चयापेक्षया अवद्ध है अतः कथंचित् शुद्ध एवं कथंचित् अशुद्ध है ऐसा कहने से तो ठीक होगा या नहीं ? तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि यह भी एक तीसरा नयवाद ही हुआ यावन्तो भवन्ति शब्द विकल्पास्तावन्तो नयाः अर्थात् शब्द के द्वारा जो विकल्प रूप कथन किया जाता है वह सब नयरूप एकाङ्गीकथन होता है वस्तु का पूरा रूप उसमें नहीं आ पाता। आत्मा का वास्तविक रूप जोकि भगवान केवली के ज्ञान में झलकता है वही समयसार है जिसकी इन शब्द वादों में गन्ध भी नहीं है।

मतलब यह कि जो मिथ्या दृष्टि जीव वह,
कर्म और आत्मा को एक मेक मानता।
जब हो सुदृष्टि फिर भी हो जहां राक सृष्टि,
तब तक आपको है कर्म बद्ध जानता ॥
वीतराग परम समाधि लव लीन वहां,
कर्मों से अवद्ध शुद्ध बुद्ध पहिचानता।
किन्तु केवली जिनेश जानते सकल देश
गहते न लेश शेष रही जहाँ ज्ञानता ॥८९॥

जब तक कि यह आत्मा मिथ्यादृष्टि रहता है तब तक तो आत्मा और कर्मों को एकमेक ही मानता है भिन्न भिन्न स्वीकार ही नहीं करता। जबकि सम्यग्दर्शन हो जाता है जिससे कि इसको आत्मा का श्रद्धान तो हो लेता है परन्तु जहाँ तक राग भाव विद्यमान रहता है वहां तक अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** ********************

आपको कर्मों से सम्बद्ध स्वीकार करते हुए उन से मुक्त होने की चेष्टा करता है एवं पर पदार्थों में होने वाले अपने राग भाव को क्रमशः कम करता चला जाता है ताकि कर्म बन्धन ढीले पड़ जावें। और इस प्रकार बढ़ते बढ़ते जब धर्मध्यान से उपर शुक्लध्यान रूप परम समाधि में लीन होकर वीतराग रूप होता है वहां पर अपने आपको कर्मों से अवद्धशुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्द अनुभव करने लगता है अर्थात वहां पर और सबको छोड़कर अपने ध्यान में एक अपनी शुद्ध आत्मा का ग्रहण करता है। यद्यपि इसके इस अनुभव को निर्विकल्प माना जाता है परन्तु वह स्थूल दृष्टि से माना गया हुआ है । और सब विकल्प मिट जाते हैं सिर्फ आत्मानुभव रूप ही विकल्प रहता है इसीलिए उसे निर्विकल्प कहा गया है वास्तव में इसका ज्ञान क्षायोपशमिक श्रुत ज्ञान रूप होता है वह विकल्पहीन सर्वथा कैसे कहा जा सकता है। बिल्कुल निर्विकल्प ज्ञान तो भगवान केवली का होता है जोकि सम्पूर्ण पदार्थों को एक साथ जानते हैं अपितु ग्रहण किसी का भी नहीं करते कार्य समयसार होते हैं ! अस्तु। समयसार कैसे और कब होता है सो क्रम बतलाते हैं –

श्रुत ज्ञान के द्वारा जिसने आत्मतत्व को जान लिया,
तब फिर आत्मख्याति के लिये जिसने ऐसा कामकिया।
परख्याति के कारण वहिरर्थ प्रवृत्ति को दूर हटा,
करके अपने मतिज्ञान को आत्माभिमुख किया सुलटा ॥९०॥

यों नाना पक्षालम्बन से आकुल श्रुत–ज्ञान को भी,
आत्मनिमग्न बना कर होवे निर्विकल्प–भावसुशोभी।
निजरस–सम्भव परमात्मदशा को ऐसे अपनाता है,
सम्यग्दर्शन बोध नाम यों समयसार ही पाता है ॥९१॥

सबसे पहले तो यह जीव श्रुत ज्ञान के द्वारा आत्म तत्व को जाने अर्थात् गुरुमुख से आत्म के स्वरूप को सुन कर उस पर अपना विश्वास जमावे यह चतुर्थ गुणस्थान की अवस्था हुई। इसके बाद परपरिणति के कारण भूत वाह्य विषयों में जो अपनी प्रवृत्ति हो रही है उसको मिटा कर अपने मति ज्ञान को आत्म सम्मुख करे अर्थात् स्पर्शनादीन्द्रियों को वश करने के लिये वाह्य वस्तुओं का त्याग करे। यह पांचवे छटें और सातवें गुणस्थान की दशा कही। और इसके भी बाद अनेक प्रकार की बातों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ *************************

लेकर मन में जो संकल्प विकल्प होते रहते हैं और इस प्रकार के वाह्य विचारात्मक श्रुत ज्ञान के भी द्वारा आत्मा में आकुलता होती है उससे बचने के लिये अपने श्रुत ज्ञान को भी आत्मोन्मुखी करले, मनको और सब तरफ से हटा कर सिर्फ आत्म चिन्तवन में निमग्न करले, वाह्य वस्तुओं को भला बुरा मान कर अनेक विकल्प होते थे उन्हें मिटा कर आत्मा में ही अपने चित्त को रमावे ताकि रागद्वेष के अंश सब विलीन हो जावें। यह अष्टमादिगुणस्थानों की अवस्था हुई। वहां पर मैं सच्चिदानन्द हूं शुद्ध हूं बुद्ध हूँ इत्यादि विचारात्मक शुद्धनय को अपना कर उससे तन्मय हो लेने के बाद और भी कुछ आगे बढ़ता है तो वहां शुद्धाशुद्ध का भी कोई विकल्प न रह कर चिन्मात्र स्वरूप में निश्चल तल्लीनता होजाती है जहां नय प्रमाणदिका कोई भी पकड़ रूप विचार न होकर सिर्फ चेतनात्मक अटल विचार होता है यह बारहवें गुण स्थान का हाल है जिससे क्षत्रमात्र में ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय का भी नाश होकर आत्मा कारण समयसार से साक्षात समयसार रूप हो लेता है तब फिर वहां अपना सच्चा स्वरूप ज्ञान दर्शन अर्थात् यथार्थ देखने जानने के सिवाय और कुछ बबाल आत्मा के साथ में नहीं रहं जाता जैसा कि- अन्यत्र केवल सम्यक्त्वज्ञान दर्शन सिद्धत्वेभ्यः इस सुत्र में भी बतलाया है । हां इस सूत्र में इतनी विशेषता है कि इसमें अरहन्तों से भी ऊपर सिद्धों के स्वरूप का वर्णन हैं जो कि घाति कर्मों की भांति अघाति कर्मों का भी नाश होने पर होता है किन्तु घाति कर्मों का तो नाश सोपक्रम न होकर निरुपक्रम ही अपना समय पाकर हो जाता है उसके लिये तो सिर्फ योगनिरोध रुप निश्चलता की जरुरत रहती है। अस्तु । श्री समयसार जी के इस सब कथन पर उन भाइयों को ध्यान देना चाहिये जो लोग ऐसा मानते और कहते हैं कि समयसार जी वाह्य त्याग की कोई जरुरत नहीं बतलाता या व्यवहारनय को व्यर्थ की बतलाता है निश्चयनय को ही उपयोगी कहता है इत्याद्रि। हां यह बात जरूर कि जो शुद्धात्मा को प्राप्त करना चाहते है जो उसके सम्मुख है वह तो निश्चय और व्यवहार दोनों ही नयों के पक्षपात से रहित होकर अपने अपने विषय या समय में दोनों को कार्यकारी मानकर उनके द्वारा अपना काम निकालना जानता है वही श्री जिन भगवान के मतका धारक सच्चा आदमी होता है ऐसा गाथा नं. १४३ में आया है सो इस प्रकार है -

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रुत की अवयव भूत उभयनय को पहिचाने,
पर परिग्रहोत्तीर्णतया न कहीं हट ठाने।
निर्मल निस्तुष चित्स्वरूप पर लक्ष्य लगाये,
कामादिक को दिल पर से हो दूर हटाये।
गणधरादि ऋषि लोग जो हों त्रिगुप्ति सन्नद्ध,
नमस्कार मेरा उन्हें वे समय–प्रतिवद्ध ॥९२॥

व्यवहार और निश्चय ये दोनों ही नय श्रुत ज्ञान भूत जैनागम के अङ्ग हैं अतः जो इनके स्वरूप को, इनके वाच्य विषय को अच्छी तरह से जानते हों किन्तु इन दोनों में से किसी भी एक को अच्छा उपयोगी समझकर एवं दूसरे को बुरा बेकार कहते हुए पक्षपात में न पड़ते हों पर पदार्थों का त्याग कर सिर्फ अपने आप को शुद्ध बनाना ही जिन्होंने अपना काम समझ रक्खा हो अतः भले ही तत्काल में व्याख्यानादि में लग्न होने से, एकान्तरूप से आत्मानुभवन में मग्न न हो रहे हों किन्तु लक्ष्य जिनका उस ओर ही हो अतः जो अपने दिल में काम क्रोधादि का संचार कभी न होने देकर अपने आप को तीनों गुप्तियों युक्त बनाये हुए हों अर्थात् मन, वचन और काय को यद्दच्छा रूप से न हिलने चलने देते हों ऐसे गणधरादि महर्षि लोगों को भी मेरा नमस्कार हो क्योंकि वे सब समय प्रतिवद्द हैं समयसार के सन्निकट पहुँच चुके हैं ।

वोण्हविणयाण भणियं जाणइ इत्यादि गाथा का स्पष्ट मतलब यही हो जाता है कि जो लोग व्यवहार में पड़े रह कर भी निश्चयनय को ही उपयोगी मानकर मगरूर बने हुए हैं एवं व्यवहार की अवहेलंना करते हैं वे लोग भी एकान्त व्यवहारनय के पक्षपाती की भांति घोर मिथ्यादृष्टि ही हैं। व्यर्थ ही अपने आप को शुद्ध कहकर खुद का बुरा कर रहे हैं भगवान के शासन में तो आत्मस्वरूप को याद करने के लिये जितना उपयोगी बतलाया है उतना ही अपने आप का संशोधन करने के लिये व्यवहार नय को भी। यह ती इतर जैन शास्त्रों का कहना है और यही समयसार जी का।

इस प्रकार श्री ज्ञान भूषण (पं. भूरामल) विरचित विवेकोदय में कर्त्र कर्माधिकारपूर्ण हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ पुण्य पापाधिकारः

अशुभ कर्म तोहेय तथा शुभ उपादेय कहलाता है,
नहीं जहां तक आप आप में जीव लीन हो पाता है।
आत्मतन्त्र यदि हुआ सुकृत भी वहां हेय दिखलाता है,
रहे जहाँ तक पुण्य कहो क्या भवविनाश हो जाता है ॥९३॥

जीव को पकड़े रहने रूप सामान्य की अपेक्षा से तो कर्म एक ही प्रकार का होता है फिर भी उसकी विशेषता की ओर देखा जाय तो प्रधानतया उसके शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार होजाते हैं। जो इस मनुष्य को नरक निगोदादि रूप अवनति की तरफ ढकेल कर संसार वृद्धि का ही कारण हो वह तो अशुभ कर्म और जो अनुदिशेन्द्र, सौधर्मेन्द्र, लौकान्तिकादि भवदायक होकर परीत संसारिता प्रगट करते हुए उन्नति का सहायक हो वह शुभ कर्म कहलाता है । अब जब तक कि यह जीव सरागता को लिये हुए है तब तक इसके लिए अशुभ कर्म हेय और शुभकर्म उपादेय होता है अर्थात् जहां तक शुक्लध्यान रूप परम समाधि में नहीं पहुँच पाता या पहुँच कर भी उसमें स्थिर नहीं रह पाता तो अशुभ कर्मों को परिहार्य समझकर शुभ कर्मों को तत्परता के साथ करता है। परन्तु जब कि यह जीव आत्मतन्त्र होकर परमसमाधिस्थ बन रहा है या उसके सम्मुख ही होता है तो अशुभ कर्मों की तरह से ही शुभ कर्मों को भी लात मारता है वह सोचता है कि यह भी तो कर्म ही तो है इसके रहते हुए मैं स्वतन्त्र थोड़े ही हो पाया! और उस जीव का यह सोचना है भी ठीक ही क्योंकि-

बेड़ी चाहे हो सुवर्ण की अथवा वह लोहे की हो,
कैदी को जकड़े रहती है जब तक उसे न छेदी हो।
अशुभ तथा शुभ कर्म की जहां तक भी सत्ता रहती है,
मुक्ति नहीं चेतन की तब तक जिन वाणी यों कहती है ॥९४॥

बेड़ी चाहे लोहे की हो या सुवर्ण की जब तक उसे न काटी जावे तब तक वह कैदी को जकड़े हुए ही रहती है। उसी प्रकार कर्म चाहे अशुभ हो चाहे शुभ जब तक कि वह बना रहेगा, जीव की मुक्ति नहीं कही जा सकती। श्री तीर्थंकर केवली के भी जब तक तीर्थंकर प्रकृति का उदय बना रहता है तब तक अरहन्त से सिद्ध नहीं हो पाते । एवं कर्मत्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की अपेक्षा दोनों एक हैं फिर भी सर्वथा दोनों को एक ही मान बैठना भूल से खाली नहीं है अपितु दोनों में बड़ा भारी अन्तर है! इसको समझने के लिये उदाहरण जैसे एक आदमी को अजीर्ण हो रहा है रोग बढ़ता है परन्तु अगर पाचक चूर्ण की खुराक खाता है तो वह उसके अजीर्ण को भी पचा डालता है और आप भी पच जाया करता है। उसी प्रकार शुभ कर्म भी आत्मा के किये हुए दुष्कर्मों को निवृत्त करते हुए आप निवृत्त होता है एवं आत्मा के लिये मुक्ति का साधन बनता है किन्तु अशुभ कर्म संसार वृद्धि कारक होता है जैसा कि गाथा नं. १४५ की आत्मख्याति में भी लिखा है – शुभाशुभौमोक्ष बन्धमार्गौतु प्रत्येकं केवल जीव पुद्गल मयत्वादने कौ अर्थात् शुभ कर्म जीव को बल दायक होने से मोक्ष मार्ग कहा जाता है किन्तु अशुभ कर्म पुद्गल को बलदायक होने से बन्ध का मार्ग संसार वृद्धि का कारण है इसीलिये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् शुभ कर्म आत्मा के हित की वाञ्छा को लेकर किया जाता है और अशुभ कर्म शरीर के वशवर्ति रूप से। यह भेद है। याद रहे कि मिथ्यादृष्टि का पुण्य कर्म शुभ न होकर शुभाभास होता है। इसके आगे अमृत चन्द्र लिखते हैं कि – तदनेकत्वेसत्यपि केवल बन्ध मार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म अर्थात् ऊपर लिखी अनेकता होने पर भी हैं दोनों के दोनों बन्ध मार्ग के आश्रय को लिये हुए उसी के सहारे पर। नवान्न अन्नोत्पादक होते हुए अन्न होता है उस प्रकार उत्खलितान्न अन्न का उत्पादक भले ही न हो फिर भी अन्न तो है ही। बस इसी तरह शुभ कर्म अशुभ कर्म की भांति संसार वर्द्धक तो नहीं किन्तु संसार रूप तो है ही अतः

शुद्धोपयोग में जब तक नहि थिरता आने पाती है,
दुष्कृत से तब तक बचने को सत्कृत पर मति जाती है।
दुष्कृत की सी तरह सुकृत से भी हट जाना पड़ता है,
जहां स्वस्थता आ जाती है वरना कांटा गड़ता है ॥९५॥

शुद्धोपयोग में जहां तक कि चित्त न लगने पावे तब तक शुभ कर्म करते ही रहना चाहिये अन्यथा तो फिर मन को तो कुछ न कुछ आलम्बन होना ही चाहिये अतः वह शुद्धोपयोग रूप आलम्बन न प्राप्त होने से अगत्या अशुभ प्रवृत्ति करेगा। हां दृढ़ संहनन के धारक धैर्यशील महा पुरुषों का चित्त स्वस्थ हो केवल आत्मानुभव रूप शुद्धोपयोग को स्वीकार किये हुए हो उनका तो उपयोग शुभ कर्म की तरफ से सहज ही हटा हुआ होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है नहीं तो फिर शुद्धोपयोग हुआ ही कहां । अब रही शुद्धोपयोग के योग्य होकर उसके सम्मुख होने वाले की बात सो उन्हीं के लिये जिन शासन में कहा गया है कि भाई आप कहीं शुभ कर्म के लालच में मत पड़े रह जाना, तुम्हारे मार्ग में तो वह कांटा ही है और इसके उदाहरण भी हमारे शास्त्रों में मिलते हैं – खुद ऋषभदेव भगवान को ही जब सत्कर्म करते हुए तिरासी लाख पूर्व बीत चुके, उनकी आयु का चोरासीवां अंश सिर्फ बाकी रहा तो इन्द्र ने विचार किया कि भगवान अगर इसी तरह करते रहे तो कैसे काम होगा अतः उसने नीलाञ्जना का संयोग मिलाया जिससे कि प्रतिबुद्ध होकर भगवान शुद्धोपयोग के साधन भूत मुनिमार्ग में लग गये। इस पर जो कोई यह कहते हैं कि निमित्त कुछ भी नहीं करता, उन लोगों को भी देखना चाहिए। अस्तु जब जिन शासन की यह स्पष्ट आज्ञा है कि आज इस कलिकाल में पैदा हुए जीव को शुद्धोपयोग हो ही नहीं सकता तो फिर उसके लिए प्रयास करना और उसकी धुन में शुभ कर्म को छोड़ कर उच्छ्रंखल हो जाना ठीक नहीं। अपितु घोर मिथ्यादृष्टिपन है निश्चय सम्यग्दर्शन तो दूर रहा तत्वार्थ श्रद्धान रूप स्थूल सम्यग्दर्शन से भी नष्ट होकर रहना है।

शङ्का – जबकि शुद्धोपयोग आजकल होता नहीं और मुनिपन का लक्ष्य शुद्धोपयोग है तो मुनि बनना व्यर्थ ही रहा।

उत्तर – शुद्धोपयोग नहीं होता किन्तु जैसा शुभोपयोगरूप धर्म ध्यान, आरम्भ और परिग्रह रहित मुनि होने से होता है वैसा गृहस्थपन में फंसे हुए ममता वाले जीव को नहीं हो पाता तथा मुनि होने की शास्त्र में आज्ञा भी है किन्तु मुनि होना तभी सार्थक है जबकि तादृश पात्रता हो कुछ स्थायी निर्ममभाव हो शरीर भी सुदृढ़ हो इत्यादि।हां ख्याति लाभ पूजा वगैरह को लेकर बनावटी वैराग्य से मुनि बनना दुनियां को धोके में डालना और अपना भी बुरा करना है। उससे तो अच्छा यही कि श्रावक बनकर धर्म साधन करे। किन्तु सच्चा वैराग्य हो तो दुनियाँदारी की झंझट से दूर होकर निर्ग्रन्थ बनना और अपने मनुष्य जीवन को सफल करना ही चाहिये।

जबकि एक ने एकमर्त्य को जान लिया–यह खोटा है,
तब फिर उससे वह तो रहता किये हुये परकोटा है।
बस तो इसी तरह से जो जन निजानन्द में लीन बने,
परपरिंणति कारक कर्मों से वह फिर क्यों संसर्ग ठने ॥९६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

जब हम जान लेते हैं कि यह आदमी विरुद्ध है तुम्हें धोके में डालने वाला है तो फिर सहज से ही उससे बच कर रहा करते हैं। उसी प्रकार अपने सहज स्वभाव में तल्लीन रहने वाले साधु लोग, उनको फन्दे में फसाये हुए रखने वाले परपरिणति कारक इन कर्मों से चाहे वह शुभ हो या अशुभ, क्यों प्रसंग रखने लगे।

राग भाव को जिन शासन में बतलाया प्रबन्ध कर्ता,
जो विराग होता है वह ही होता सदा मुक्ति भर्ता।
बुरे कार्य की तरह भले में भी रत ही रहना नीका,
कैसे क़हला सकता है फिर कहो एक सुज्ञानी का ॥९७॥

इस पर कुछ भोले भाई कुतर्क करते हैं कि जब राग करना बुरा है तो फिर जिनोपासना वगैरह सरीखा राग हम चला करके ही क्यों करें? रोटी खाना, पानी पीना, सो रहना आदि तो करना पड़ते हैं। उनं ऐसा कहने वालों को सोचना चाहिए कि क्यों करना पड़ते हैं? क्या कर्म करवाते हैं? किन्तु नहीं। यहां तो जगह जगह यही बतलाया है कि परपदार्थों में प्रवृत्ति यह अपने अज्ञान भाव से आप करता है और जब आप ही विषयों में प्रवृत्ति करता है तो आप ही भगवदुपासना वगैरह में भी लगे ताकि विषयों की तरफ का अशुभ राग है वह धीरे-धीरे कम होकर शुभ राग बने एवं रागमन्द हो जावे।

शङ्का - जब कि रागद्वेष या वाह्य पदार्थों में प्रवृति यह जीव आप ही करता है फिर-चरित मोहवश लेश न संयम पै सुरनाथ जजै हैं। एक सराग सम्यग्दृष्टि के लिये,/ऐसा क्यों कहा जाता है।

उत्तर - यह तो श्लाघावाद है उसकी कीर्ति का गाना है ताकि हम उसके सच्चे श्रद्धान की तरफ अपनी रुचि दिखलाते हैं । संयम भाव को तो वह अपने आत्म प्रयत्न से ही चारित्र मोह को दबा कर प्राप्त करेगा जैसे कि सत्य श्रद्धान पाया है। उसके बिना किये चारित्र मोह दूर नहीं हो सकता। और उसका प्रयत्न यही कि वह विषयों की तरफ से हटकर भगवान अरहन्त से लबलावे जैसा कि नीचे नं. १५१ की गाथा में बताया है।

पर परिणति से रहित समय हो वही केवल ज्ञानी है,
तन्मय होने से मुनियों को मिलती मुक्ति निशानी है।
यही एक परमार्थ, बिना इसके जो व्रत तप करते है,
साँसारिक सुख पा सकते हैं किन्तु निर्वृतिन वरते हैं ॥९८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

श्री समयसार जी की वह मूल गाथा इस प्रकार है – परमट्ठो खलु समओ सुद्धे जो केवली मुणीणाणी। तम्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावन्ति णिव्वाणं ॥१५१॥ इसका सीधा स्पष्ट अर्थ यह होता है कि जो मुनि परमोत्कृष्ट अवस्था पर पहुँच चुका है जो पूर्ण ज्ञानी हो कर केवली कहलाने लग गया है वही शुद्ध समय है स्पष्ट रूप से निर्मल निर्दोष आत्मा कहलाता है जिसको परमात्मा कहना चाहिये क्योंकि वह स्वस्य भवनं यस्यस स्वभावः अर्थात व्यक्त रूप से अपने आपके रूप को प्राप्त कर चुका है। उस परमात्मा अरहन्त भगवान का जो मुनि लोग ध्यान करते हैं अपने चित्त के द्वारा उसमें स्थित होते हैं वे मुनि लोग ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं। एवं मुनि लोग ध्यान के द्वारा जिस परमात्मा अरहन्त परमेष्टी का आराधन करते हैं। उसी का सम्यग्दृष्टि गृहस्थ लोग अपने तरीके से आराधन करते हैं जिसका कि नाम आमतौर पर पूजन है। जो कि मुनि और गृहस्थ इन दोनों का ही यह परम अरहन्ताराधन, शुभोपयोग को लिये हुये धर्म ध्यान रूप शुभ कर्म है जिसको कि स्वामी कुन्दकुन्द अपने शब्दों में जोर के साथ मोक्ष का साधन[१] बता रहे हैं। और स्वामी जी का यह बताना है भी बिलकुल ठीक क्योंकि हम अपने आप अपने मुँह को, अपनी आँखों से नहीं देख सकते। दर्पण को सामने में रखकर उसमें पड़े हुये प्रतिविम्ब द्वारा ही उसको पहिचान सकते हैं कि जैसा इस दर्पण में प्रति विम्ब है वैसा ही मेरा मुंह है। उसी प्रकार छद्मस्थ अल्पज्ञानी अपनी आत्मा के स्वरूप को भी अपने आप नहीं जान सकता परन्तु अरहन्त स्वरूप जानता पहिचानता तथा अपने ध्यान में लाता है और फिर विचारता है कि जैसा श्री अरहन्त भगवान का रूप है वैसा ही मेरा सहज स्वरूप है एवं मैं ऐसा हूँ मैं वैसा हूँ यों कहता कहता ही आत्मनिमग्न हो लेता है अर्थात् धर्मध्यान ही शुक्लध्यान के रूप में परिणत होता है जिससे कि आत्मा कर्म काट कर मुक्त होता है। हां यह बात इसके साथ में है कि गृहस्थ अवस्था में वह धर्म ध्यान तक ही सीमित रहता है बिना निर्ग्रन्थ हुये और उत्तम संहनन का धारक हुए बिना शुक्लध्यान नहीं बन पाता। परन्तु वह धर्मध्यान भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के साथ साथ सम्यक चरित्र स्वरूप होता है अतः मोक्ष का मार्ग है, आत्मा का धर्म है परन्तु अपूर्ण है अभी पूर्ण प्रगट नहीं हुआ है। जो

---

१. जो जाणादि अरहन्तं दव्वत्त गुणत्तपज्जयत्तेहिं सोजाणदि अप्पाणंमोहो खलु जादितस्सलयं ॥८२॥ (कुन्दकुन्दारहन्त भक्ति)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

लोग इस परमात्मोपासना से रहित यानी अर्हन्त को जाने और माने बिना ही व्रत, तप, नियम वगैरह पालते हैं तो वह उनका कर्तव्य, धर्म न होकर पुण्यभाव है उससे उन्हें सिर्फ सांसारिक सुख स्त्री, पुत्र, धन-दौलत, स्वर्ग भोग वगैरह मात्र मिल जाते हैं मुक्ति नहीं हो पाती यह बात नीचे की गाथा में आचार्य ने लिखी है -

साधु कहा कर भी उस आत्मा को साध नहीं सकते
किन्तु अकेले व्रत नियमादिक को ही शिव पथ हों वकते।
उनकी उस करणी को जिनजी बाल तपस्या कहते हैं
क्योंकि बिना आत्मानुभवन के वे भवस्थ ही रहते हैं ॥९९॥

परमठ्ठम्मिदु अठिदो यानी जो उपर की गाथा में बतलाये हुए परमात्मा श्री अर्हन्त भगवान के स्वरूप को जानता और मानता भी नहीं है वह गृहस्थ तो क्या भले ही वह साधु भी हो जाय किन्तु उस परमात्माराधन के बिना अपनी आत्मा का साधन भी वह नहीं कर सकता एवं आत्मानुभवन के बिना उसे कभी मुक्ति नहीं मिल सकती चाहे वह खूब ही व्रत तपश्चरण वगैरह करता रहे और उन्हें मुक्ति देने वाले मानता रहे। मतलब इस गाथा के परमठ्ठम्मि शब्द से पूर्व गाथा में वर्णित परमार्थ यानी श्री अर्हन्त भगवान् का ग्रहण किया गया है और उसको माने बिना व्रतादि को व्यर्थ कहा है जैसा कि तात्पर्यवृत्ति में लिखा है - तस्मिन्नेव पूर्व सूत्रोक्त परमार्थलक्षणे परमात्म स्वरूपे अस्थितोरहितस्तेन यस्तपश्चरणं करोतिव्रतादिकं च धारयतितत्सर्वं वालतपश्चरणं बालव्रतं ब्रुवन्ति कथयन्ति सर्वज्ञा इति।

वाह्य त्याग के बिना न हो सकता है आत्मज्ञान सही
किन्तु न उसके साथ नियम से आत्मबोध की व्याप्ति कही।
इसी लिये हे साधो साधो त्यागी होकर आत्मा को
जिसके बिना नहीं पा सकते तुम शिवपथ की साकाको ॥१००॥

परमात्मा श्री अर्हन्त भगवान का आराधन किया जाय उनके सच्चे स्वरूप को मान लिया जाय फिर भी अगर वाह्य वस्तुओं का त्याग न किया जाय तब तक आत्मा का साक्षात् सही सही ज्ञान हो जावेगा क्या ? अर्थात् शुक्लध्यान हो सकेगा क्या? नहीं हो सकता यह बात तो ठीक है परन्तु त्याग कर देने मात्र से ही वह आत्म ज्ञान हो ही जावे ऐसा भी नियम नहीं है। वाह्य त्याग तो द्रव्यलिङ्गी मुनियों का पूरी तौर पर होता है जिससे नवमग्रैवेयक तक चले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

********** **********************

जाते हैं फिर भी मुक्ति नहीं पा सकते। क्योंकि उन्हें परमात्मा श्री अर्हन्त के स्वरूप पर विश्वास नहीं होता अतः आत्मज्ञान से भी वे वञ्चित हो रहते हैं। जिनको कि श्री अरहन्त भगवान के अनन्त ज्ञानादिमय स्वरूप पर पूर्ण भरोसा होता है वे सराग सम्यग्दृष्टि जीव उस भव में भी नहीं तो भवान्तर में त्यागी होकर उस परमात्म स्वरूप के सहारे पर साक्षात् आत्म स्वरूप शुद्धोपयोग प्राप्त करके नियम से मुक्त हो जावेंगे इसमें सन्देह नहीं ।

शङ्का - द्रव्य लिङ्गी मुनि अरहन्त भगवान को नहीं मानते तो क्या और किसी को मानते हैं ? यह हमारे तो समझ में नहीं आया हमने तो सुना है वे कट्टर जैन होते हैं जिन भगवान को ही मानते हैं ।

उत्तर - तुम्हारा कहना ठीक है द्रव्य लिङ्गी मुनि वैसे तो जिन भगवान को ही मानते हैं किन्तु अन्तरङ्ग में श्री अरहन्त भगवान के स्वरूप का उन्हें विश्वास नहीं होता इसे समझने के लिए उदाहरण - मानलो एक सेठ है जिसके कि अरबों रूपये बैंक में जमा हैं उनके सूद से उसका काम चलता रहता है जिसको कुछ देना होता है तो बैंक का चैक काट कर दे दिया करता है लोग सभी उसे सेठ कहते हैं। उसका नौकर भी उन्हें सेठ कहता है जैसे कि और लोग कहते हैं खिदमत करता है उसकी तनखा महीने के महीने पा लेता है। किन्तु मन में विचारता है कि ये कैसे सेठ हैं इनके पास तो कुछ भी नहीं दीखता वैसे ही द्रव्यलिङ्गी भी अरहन्त को अरहन्त कहता है उनके मत के अनुसार चलता है फिर भी उसके दिल में अरहन्त के स्वरूप के प्रति विश्वास नहीं बैठ पाता सोचता है कि दुनियाँ के जीव जब अल्पज्ञ हैं मैं भी अल्पज्ञ हूँ तो कोई सर्वज्ञ कैसे हो सकता है और सर्वथा वीतराग भी इत्यादि। अगर अरहन्त के स्वरूप पर विश्वास हो तब तो घुमाव खाकर वह उसकी शुद्धात्मा के स्वभाव का विश्वास है ताकि मुक्ति हुये बिना न रहे किन्तु उससे वह दूर रहता है वह तो संसारिक सम्पत्ति स्वर्गादि रूप अभ्युदय में ही मुक्त को भी टटोलता है। अतः मोक्ष कहां जैसे कि - परमट्ठवाहिराजे तेणिव्वाणं णविन्दन्ति, इसमें बतलाया है। क्योंकि वह तो अज्ञान के वश हो पुण्य को ही मोक्ष देने वाला सर्वथा मानता है जैसा कि -

हो कुकुर्म से भवी और सत्कर्म करे वह शिव पावे
इस विचार से व्रतनियमादि मय प्रवृत्ति को अपनावे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

ज्ञानानन्दात्म स्वभाव जिसके दिल को न कभी भावे
वह अज्ञानी जिन जी के मत से बाहर का कहलावे ॥१०१॥

बेईमानी, दगाबाजी वगैरह सरीखे बुरे कार्य करने से ही यह जीव संसार के भीतर चक्कर काटता है परन्तु ईश्वरोपासना परोपकार दान सन्मान आदि कार्यों में संलग्न होने पर मुक्ति प्राप्त कर लेता है इस प्रकार अति संक्लेश परिणाम रूप कार्यों को तो बन्ध का कारण मान कर उससे दूर रहने की चेष्टा करते हैं किन्तु मन्दकषाय रूप शुभ प्रवृत्ति को ही अपनाये रहने में अपने कर्तव्य की इति श्री समझते हैं। सकल कर्म रहित सहजोदासीन ज्ञानानन्द स्वरूप मोक्ष की जिनके कि विचार में कोई कीमत नहीं है ऐसे जीव भले ही ऊपर से जैन मत सम्मत आचार प्रकार के पालन करने वाले भी क्यों न हों अपितु जिनशासन के मानने वाले नहीं कहे जा सकते क्योंकि श्री जिनभगवान ने तो यह स्पष्ट घोषणा की है कि - जिस प्रकार बुरे कर्म कर्म हैं उसी प्रकार भले कर्म भी कर्म ही तो हैं। और निष्कर्मता का नाम जब मोक्ष है तो फिर उसके लिये उनसे भी दूर होना ही होगा। यह बात दूसरी कि अपने में तादृश पात्रता जब तक न आ पा रही हो तब तक नरक निगोदादि के कारण अशुभ कर्मों से बचने के लिये सत्कर्मों को ही तत्परता के साथ किया जावे। जैसे कि व्यापारियों की खरीद बिक्री जो होती है वह मुनाफे के लिये ही होती है नुकसान के लिये नहीं फिर भी किसी थोक जमामाल में आगे और भी अधिक नुकसान होता दीखे तो उसे साधारण से नुकसान के साथ शीघ्रता पूर्वक निकाल बाहर कर दिया करता है। उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान के सच्चे अनुयायी का लक्ष्य तो निर्द्वन्द्व होने का होता है किन्तु जब तक कुछ किये बिना नहीं सरता तो वह बुरा न करके अच्छा करता है अर्थात् एकान्त निवृत्ति रूप आत्म चिन्तन में लगे रहने रूप दृढ़ता जबकि उपयोग में न हो बल्कि ऐसा करने से यह चञ्चल चित्त प्रत्युत बुरी बातों में दौड़ धूप मचाने लग जाता हो तो उस समय उस पर रोक लगाने के लिये उसे दान सन्मानादिक सत्कार्यों में रमाया जाता है ताकि उस पर से फिर सरलता के साथ निर्द्वन्द्व अवस्था को अपना लिया जाय क्योंकि वास्तविक मुक्ति का मार्ग तो वही है जैसा कि नीचे बताया जा रहा है -

जीवादिक तत्वों के उचित मानने को सम्यक्त्व कहा,
उनका ही ऊहापोहात्मक निर्णय सम्यग्ज्ञान महा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ****************************

फिर अपने से भिन्न पदार्थों पर से रागद्वेष टले,
परमोदासीनत्व वृत्त यों होने से ही मुक्ति मिले ॥१०१॥

जीवा जीवादि सातों तत्वों का स्वरूप सर्वज्ञ भगवान ने बतलाया है ठीक उसी तरह से उन्हें मानते हुए अपने विश्वास को दृढ़ बनाना उसका नाम सम्यग्दर्शन है। संशय विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित होते हुए उन पर ऊहापोहात्मक विचार करने का नाम या उन्हें जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है।-और अपने से भिन्न दुनियाँ के सभी पदार्थों पर से रागद्वेष को हटा कर उदासीन हो जाना समभाव को स्वीकार कर लेना सो चारित्र कहलाता है। ये तीनों अपनी पूरी अवस्था पर पहुँच जाते हैं तभी मुक्ति प्राप्त होती है। इन तीनों का प्रारम्भ तो एक साथ चतुर्थ गुण स्थान में होता है और पूर्ति क्रम से होती है।

सम्यग्दर्शन के विष्य भूत नव पदार्थों का स्वरूप

१. जीव आत्मा चेतनामय सदा ज्ञाता पर से भिन्न त्रिकाल स्थायी है। जब वह आत्मोन्मुख निभितक परावलम्ब से युक्त होता है तब शुभ भाव और जब आत्मविमुख परपदार्थावलम्बन से युक्त होता है तो अशुभ भाव करता है किन्तु जब स्वावलम्बी बनता है तो शुद्ध भाव मय होता है।

२. अजीव जिनमें चेतना नहीं होती ऐसे पांच द्रव्य हैं- १ धर्म २ अधर्म ३ आकाश ४ काल और ५ पुद्‌गल इनमें पुद्‌गल स्पर्शादि मान होने से मूर्तिक हैं बाकी चारों उनसे रहित अमूर्तिक हैं।

१ गतिशील पुद्गल और जीव जब गमन करते हैं तो मछली को जल की तरह उनको उदासीनता रूप से सहकारी होना धर्म द्रव्य का कार्य है और जब वे ठहरते हैं तो रेल को स्टेशन की भांति उदासीन रूप से सहकारी होना अधर्म द्रव्य का कार्य है। सब चीजों को जगह देना आकाश का और सब चीजों के परिवर्तन में सहकारी होना काल का कार्य है। आपस में एक दूसरे से मिलना एवं विछुरना तथा स्थूल सूक्ष्म रूप होना किञ्च सरागी जीव के साथ में भी कर्मत्व भाव को प्राप्त होकर मेल करना इत्यादि सब यह पुद्‌गलों का कार्य है। उक्त पाँचों अजीव वस्तुयें आत्मा से भिन्न, आत्मा इनसे भिन्न तथा अनन्त आत्मायें भी एक दूसरे से भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य हैं। पर संयोग सम्बन्ध से रहित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

एकाकी द्रव्य हों उनमें विकार नहीं होता। पराभिमुख जीव के पुण्य पाप रूप विकार भाव होता है। जीव के रागादि रूप विकार को लेकर जड़ कर्म रूप सूक्ष्म धूल क्षणिक संयोग सम्बन्ध के द्वारा उसके साथ में बन्ध को प्राप्त होती है। अपने स्निग्ध और रुक्ष गुण विशेष को लेकर पुद्गल परमाणुयें आपस में भी मिल कर स्कन्ध रूप में परिणत होती हैं।

३ दया, दान, भक्ति पूजा, व्रत इत्यादि के रूप में जीव के भाव होना भाव पुण्य और उसके निमित्त से जड़ परमाणवों का समूह जो सांसारिक सुख सम्पादन शक्ति को लिए हुये इस आत्मा के साथ सम्बन्धित होता है वह द्रव्य पुण्य कहलाता है।

४ हिंसा, झूठ, चोरी और कूशील वगैरह रूप आत्मा के संक्लेश परिणामों का नाम भाव पाप और उसके निमित्त से जो पुद्गल परमाणुओं का समूह दुःखदायक शक्ति को लिये हुये आत्मा के साथ संयुक्त होता है वह द्रव्य पाप है।

५ आत्मा में शुभाशुभरूप विकार भावों का होना सो भावाश्रव[1] है और उसके द्वारा जो नवीन ज्ञानावरणादि रूप कर्म परमाणुओं का आना होता है सो द्रव्याश्रव कहलाता है।

६ सम्वर - आत्मा के निष्कषाय रूप परिणामों का नाम भाव सम्वर और उससे नूतन कर्म आने में रोक लग जाने का नाम द्रव्य सम्वर है।

७ तत्वाभ्यास के बल से प्राप्त हुई आत्मीय दृढ़ता के द्वारा क्रमशः आत्मा की कलुषता के कम होने का नाम भाव निर्जरा और उसके निमित्त से कर्म परमाणुओं का अंशतः खिर जाना सो द्रव्य निर्जरा कहलाती है।

८ बन्ध - आत्मा का राग द्वेषादि रूप विकार भावोमय हो रहने का यानि परतन्त्र हो रहने का नाम भावबन्ध है और कर्म रूप शक्ति को लिये हुये कर्म परमाणओं का आत्मा के साथ में लगे रहने का नाम द्रव्य बन्ध है ।

९ आत्मा की अशुद्ध अवस्था का अभाव हो कर पूर्ण शुद्ध अवस्था में आ जाना सो भाव मोक्ष और उसके निमित्त कारण द्रव्य कर्मों का

---

१ याद रहे कि यहां पर ईर्यापथिक आश्रव की विवक्षा नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्ण नाश हो जाना सो द्रव्य-मोक्ष है। इस प्रकार जिन भाषित सप्त तत्व या नव पदार्थों की यथार्थ प्रतीति का नाम व्यवहार सम्यक्त्व है। यह प्रतीति शुभ रूप होती है क्यों कि पूर्वोक्त उलटे पन को छोड़ कर सुलटे पन पर आ जाता है फिर भी उसके साथ हेय को छोड़ कर उपादेय को प्राप्त करना यह बुद्धि लगी रहती है मतलब विश्वास तो अपने आपके रूप में ठीक हो गया परन्तु प्रवृत्ति अभी पर रूप में होती है उसे ठीक करना बाकी है अतः वह शुद्ध बिलकुल निर्मल हो गई हो सो बात नहीं है जैसे मान लो कि एक आदमी चलते चलते ठोकर खाकर उलटे मुँह जमीन पर गिर पड़ा तो चोट लगकर उससे उठा नहीं जाता है मुँह और सारा शरीर भी घूल में हो गया है। अब जब उसका कोई हितैषी उसे उठाता है तो कुछ उसके इशारे से और कुछ अपनी हिम्मत से उठकर बैठता है उलटे से सीधा हो लेता है किन्तु गरदा उसके मुंह और शरीर पर लगा हुआ है उसे अच्छी तरह से झाडे या नहावे तो साफ सुथरा बने । उसी प्रकार संसार में ठोकर खाकर रुलते हुये इस अज्ञानी जीव को श्रीगुरु जब समझाते हैं तो उनके कहने को निमित्त लेकर अपनी विचार शक्ति के द्वारा तत्वनिर्णय करके अपनी श्रद्धा को उलटी से सीधी कर लेता है परन्तु इष्टानिष्ट बुद्धि कर वाह्य विषयों में अब भी प्रवृत्ति बनी ही है इसलिये इस की इस प्रतीति को सराग कहते हैं।

शङ्का - जिस समय में यह सम्यग्दृष्टि जीव वाह्य विषयों में प्रवृत्ति करता है तब सात तत्वों के बारे का या आत्मा का इसके विचार तो होता ही नहीं फिर वहां उसके उसका श्रद्धान कैसे ?

उत्तर - तुम ने कहा सो ठीक है विचार तो जिस विषय में प्रवृत्ति होती है उसी रूप हुआ करता है क्योंकि विचार तो उपयोगाधीन है और छद्मस्थ का वह एक ही तरफ हो सकता है परन्तु प्रतीति इससे भिन्न है वह टिकाऊ होती है जैसे किसी सज्जन ने किसी अपने प्रेमी से उसके लड़के के बारे में पूछा कि यह किस का लड़का है तो वह कहता है कि यह तो आपका ही लड़का है और यहाँ तक भी कहता है कि बबुवा यह तेरे चचा हैं इनकी सेवा में रहना तुम्हारा काम है इत्यादि फिर भी अन्तरङ्ग में प्रतीति है कि लड़का तो मेरा ही है। यह हिसाब मिथ्या दृष्टि द्रव्य लिङ्गी का होता है वह अपने शरीर तक को आत्मा से भिन्न बताता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

है कहता है कि यह शरीर तो दुनियां का है दुनियाँ के भले के लिए ही इसे लगा देना चाहिये इत्यादि किन्तु अन्तरङ्ग में शरीर में से अहंकार की प्रतीति दूर नहीं हो पाती। अव्रत सम्यग्दृष्टि का हाल इससे उलटा होता है - वह वाह्यन्यायोचित विषय भोगों को और वर्तमान इस शरीर को अपने कहता है और अपने बता कर उनकी पूरी-पूरी रक्षा भी करता है परन्तु ऐसा करते करते भी अगर वे भ्रष्ट हो जाते हैं तो उनके पीछे वह इतना विह्वल होकर नहीं रहता क्योंकि उसकी प्रतीति में यह बात जमी हुई होती है कि - ये सब मेरी आत्मा से भिन्न चीजें हैं इनका परिणमन वस्तुतः इनके आधीन है। यह सम्यग्दृष्टि जीव अपनी उस प्रतीति को उपयोग में भी वैसी ही सिद्ध कर पाने के लिये वाह्य विषयों में होने वाले अपने अन्तरङ्ग के रागद्वेष को दूर करने की चेष्टा करता है तब उन्हें क्रमशः दूर हटा कर उसे निर्दोष शुद्ध बना लेता है एवं एकाग्र आत्मनिमग्न निश्चल हो लेता है तब वही सम्यग्दर्शन वीतराग सम्यग्दर्शन हो जाता है जोकि स्पष्ट शुद्धोपयोग रूप होता है। मतलब सम्यग्दर्शन और ज्ञान इन दोनों की शुद्धता चरित्र के द्वारा होती है जैसे कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी अपने चरित्रपाहुड में - 'चारित्तं सोहिकारणं तेसिं' इस वाक्य द्वारा स्पष्ट किया है। एवं सम्पादन तो तीनों का भिन्न-भिन्न रूप में होता है किन्तु सम्पन्न होने पर तीनों एकमेक होकर आम मय होते हैं । जोकि भिन्नरत्नत्रय और अभिन्नरत्नत्रय कहे जाकर व्यवहार मोक्षमार्ग तथा निश्चय मोक्षमार्ग नाम से पुकारे जाते हैं। इस मुक्ति के मार्ग को ही इतर ग्रन्थों में धर्म नाम से पुकारा गया है जोकि आत्महितैषी के द्वारा पुरुषार्थ पूर्वक प्राप्त किया जाने के योग्य है।

भिन्न भिन्न यों मानि विवेचक लोग चले इन पर क्रम से,
जब तक पहुंच न पावे निश्चय मोक्ष मार्ग पर स्वश्रम से ।
और छोड़ि, निज में रुचि निजका ज्ञान लीनता भी निज में,
यों निश्चय पथ पावे यति होकर के कर्म हने क्षण में ॥१०२॥

ऊपर लिखे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र ये तीनों आत्मा के स्वभाव है इसलिये वस्तुतः आत्मा से अभिन्न होते हैं। फिर भी मुमुक्षु इन को लक्षणादि से भिन्न-भिन्न मानकर इन्हें प्राप्त करने और इनमें निष्णात होने की भावना रखता है अथवा यह पर है इसे छोड़ना और अपने आपको स्वीकार करना इस प्रकार विवेचनात्मक चेष्टा होती है तब तक के परिणमन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ***********************

को व्यवहार मोक्षमार्ग कहा जाता है। और इस प्रकार के अपने पुरुषार्थ के द्वारा और सब कुछ को छोड़ कर अपने आप के आत्म स्वरूप में रुचि प्राप्त करते हुए और सब कुछ को भुला कर अपने आपको ही जानते हुए अपने आप में ही तल्लीन हो रहता है जहां पर पहुँच कर इस जीव की ऐसी अवस्था हो लेती है उस क्षण के इसके भाव को निश्चय मोक्ष मार्ग कहते हैं। उस समय यह आत्मा सच्चायति होकर कुछ ही देर में अपने पूर्वकृत कर्मों को खपा डालता है। मतलब व्यवहार मोक्ष मार्ग की सम्पत्ति नियम से निश्चय मोक्ष मार्ग की जनक है और निश्चय मोक्ष मार्ग की पूर्ति होने से उत्तरक्षण में मुक्ति हो जाती है। यहां स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य जी कि गाथा मूल इस प्रकार से है कि -

मोत्तूणणिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टन्ते।
परमट्ठमस्सिदाणदु जदीणकम्मक्खवो भणिदो ।।२५६।।

अर्यतिगम्यते प्राप्यत इत्यर्थः, निश्चयस्तदात्मकः स चा सावर्थश्चतंमुक्त्वा, अर्थात् प्राप्त करने योग्य निश्चय मोक्ष मार्ग को लक्ष्य में न लेकर - उसे साध्य न बना कर सिर्फ व्यवहार मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति करने वाले लोग समझदार नहीं होते क्योंकि व्यवहार मोक्ष मार्ग तो साधन रूप है उसको प्राप्त करने का तरीका है । साधन साध्य का ही किया जाता है उसके बिना नहीं होता । मानलो हमारी कोई चीज छत पर पड़ी है तो उसे प्राप्त करने के लिये हमें छत पर पहुँचने की जरूरत है और छत पर सीढ़ियों के द्वारा ही पहुँचा जायेगा। परन्तु अगर कोई भोला आदमी सिर्फ सीढ़ियों पर ही नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे यों चक्कर लगाता रहे छत पर न जावे उस पर जाने को भूल ही जावे तो उसका वह सीढ़ियों पर चढ़ना और उतरना किस काम आया। उसी प्रकार निश्चयरत्नत्रय जिससे सम्पूर्ण कर्म क्षय रूप मोक्ष की साक्षात प्राप्ति होती है उसे भूल करके कोरे व्रत तपश्चरणादि रूप व्यावहारिक क्रिया काण्ड में ही लगा रहे तो वह ठीक नहीं वह तो व्रत तप न होकर बाल तप कहा जायेगा व्यवहार भी न होकर दुर्व्यवहार एवं शुभ भी न होकर शुभाभास माना जावेगा अधर्म ही होगा धर्म नहीं, मोक्ष का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है । परन्तु साध्यभूत निश्चय रत्नत्रय को लक्ष्य बनाकर उसे प्राप्त करने के लिये अपूर्ण अवस्था में साधन रूप से व्रतादि का आचरण करना शुभ रूप होते हुये भी व्यवहार रूप से मोक्ष मार्ग है अतएव धर्म भी है। सकल संयमी मुनियों के महाव्रत ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं बल्कि देश संयमी की शुभाशुभ रूप मिश्रित चेष्टा भी धर्म मानी जाती है क्योंकि धर्म की भूमिका चौथे गुण स्थान अव्रत सम्यग्दृष्टि नामक स्थान से ही शुरू हो जाती है।

शङ्का – हम तो समझते हैं कि शुभ वृत्ति तो विकार भाव है वह कभी भी धर्म नहीं हो सकती। तथा वस्तु विज्ञानसार के पृष्ट ९२ पर भी ऐसा ही लिखा है देखो – वीतराग शासन में कथित जीवादि नवतत्वों की विकल्प से जो सच्ची श्रद्धा है सो पुण्य का क्रारण है क्योंकि उसमें भेद का और पर का लक्ष्य है पर लक्ष्य धर्म का कारण नहीं है इत्यादि तथा उनके समयसार प्रवचन पृष्ठ ४३७ पंक्ति १९ में भी लिखा है कि – नवतत्व के भेद से – विकल्प से आत्मा का विचार करना सो शुभ राग है व्यवहार है उस में धर्म नहीं है। और हम लोग तो उपर्युक्त गाथा का भी ऐसा ही अर्थ लगाया करते हैं कि– निश्चयार्थ मुक्त्वा अर्थात् मतलब की चीज एक निश्चय (अभेद) रत्नत्रय ही है उसी का आश्रय लेना उसी से कर्मक्षय होते हैं। उसके सिवाय व्यवहार मार्ग को अपनाना तो किसी भी हालत में ठीक नहीं है प्रत्युत बन्ध का ही कारण है ।

उत्तर – भैया जी क्या कह रहे हो यह तुम्हारा कहना तो सभी जैनाचार्यों के विरुद्ध पड़ता है। खुद इस समयसार जी में ही पहले बताया जा चुका है कि निश्चय तो तीर्थ फल रूप हैं और व्यवहार तीर्थ अर्थात् उसकी प्राप्ति का उपाय इन्हीं श्री कुन्दकुन्द ने चारित्तं खलु धम्मो, ऐसा कहकर उस चारित्र के अणुव्रत और महाव्रत रूप भेद करते हुए उन दोनों को ही धर्म बतलाया है देखो इनका चारित्त पाहुड ग्रन्थ। तथा च इन्हीं ने अपने रयणसार ग्रन्थ में– 'दानं पूजा मुक्खो सावयधम्मोण सावयातेण विणा' ऐसा लिखा है।

शङ्का – अणुव्रत और महाव्रतों को जबकि तत्वार्थ सूत्र में शुभ बन्ध के कारण बताकर आश्रव के वर्णन में लिया है तो फिर उन्हें धर्म कैसे कहा जा सकता है. धर्म तो मोक्ष का कारण होता है और आश्रव संसार का।

उत्तर – ठीक है परन्तु उसी तत्वार्थ सूत्र में पञ्च समितियों को सम्बर में लिया है सो समितियां भी तो शुभ रूप ही होती हैं। जब समितियाँ सम्बर हैं तो व्रत जो होते हैं समिति गुप्ति वगैरह सहित ही होते हैं उन्हें छोड़ कर तो हो नहीं सकते। व्रत अवयवी और समिति आदि उनके अवयव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। अतः यह अर्थ हुआ कि वही व्रत आश्रव रूप भी है और सम्वर रूप भी। निरर्गलता का निरोधक होने से तो सम्वर रूप किन्तु किञ्चित् सत् प्रवृत्ति रूप होने से प्रशस्ताश्रव रूप भी जैसे कि जल से धोया हुआ कपड़ा, बिना धुले कपड़े से तो साफ होता है किन्तु साबुन से धुले हुए कपड़े की अपेक्षा से मैला भी। वैसे ही छठे गुणस्थान की अपेक्षा से तो पञ्चम गुणस्थान के परिणाम आश्रव रूप किन्तु चतुर्थ गुणस्थान की अपेक्षा सम्वर अतः धर्म रूप।

शङ्का – धर्म तो वस्तु स्वभाव का नाम है आत्मा का स्वभाव तो निर्विकल्प एक अखण्ड ज्ञायक है। अणुव्रत महाव्रतादि भेद विकल्प रूप आत्मा का धर्म कैसे हो सकता है।

उत्तर – ठीक है आत्मा के स्वभाव का ही नाम धर्म है किन्तु आत्मा का स्वभाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र रूप रत्नत्रय है जोकि आत्मा के साथ भी और आपस में भी कथंचिद् भिन्न और कथंचिद् अभिन्न है। आत्मा गुणी है और ये उसके गुण हैं आश्रय इन तीनों का अभिन्न एक – आत्मा है परन्तु अर्थक्रिया इन तीनों की भिन्न-भिन्न हैं एवं वस्तु का स्वरूप कथंचिद् भेदा भेदात्मक है वस्तु का स्वभाव अभेद रूप ही हो सो बात जैन शासन में तो मान्य नहीं है। निर्विकल्पध्यान समाधि में भी सर्वथा निर्विकल्पपना नहीं होता वहां पर भी आत्मा के गुण से गुणान्तर और पर्याय से पर्यायान्तर का विचार होता ही रहता है। हाँ वाह्य वस्तुओं में तेरा मेरा या बुरा भलां मानते हुये जो विकल्प उठते थे सो वहाँ नहीं होते इसीलिये उसे निर्विकल्प समाधि कहा है। टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य ने भी आत्मीक गुणों का भिन्न-भिन्न प्रतिभासात्मक भेद रूप व्यवहार का नहीं किन्तु अन्य द्रव्यों को लेकर जो संकल्प विकल्प होते हैं तद् रूप व्यवहार का निषेध किया है देखो– 'यःखलु परमार्थ मोक्ष हेतोरतिरिक्तो व्रततपः प्रभृति शुभकर्माकेषांचिन्मोक्षहेतुःस सर्वोऽपि प्रतिषिद्धस्तस्य द्रव्यान्तर स्वभावत्वात्तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभावात् परमार्थ मोक्ष हैतोरेवैक द्रव्य स्वभावत्वात् तत्स्वभावेनज्ञानभवनस्यभवात् ऐसा लिखा है अर्थात अपने इस शरीर से किसी का बिगाड़ न करना, सर्दी गर्मी की बाधा, भूख प्यास की वेदना का सह लेना इत्यादि आत्म स्वभाव से भिन्न सिर्फ वाह्य के व्रत और तप को ही जिन किन्हीं लोगों ने मोक्ष का कारण मान रक्खा हो तो वह सब यहाँ जैन शासन में निषिद्ध है, वह मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ****************************

क्योंकि वहाँ आत्मा का परिणमन नहीं है वह तो आत्मा से भिन्न द्रव्य शरीर मात्र की क्रिया है। किन्तु जबकि इच्छा का न करना, आत्मा का स्वभाव है ऐसा समझते हुए, होने वाली भोजन की इच्छा को न होने दिया, यह इच्छा के न होने देने रूप या न होने रूप जो तप हुआ सो भेद प्रतिभास रूप होने से व्यवहार कहलाता है किन्तु आत्म स्वभावमय है इसलिये मोक्षमार्ग है धर्म ही है। और इसके होते हुए शरीर से जो भोजन नहीं किया जाता वह उस व्यवहार धर्म का भी सहयोगी होने से बाहरी तप कहला कर उपचार धर्म कहा जावे तो क्या बुरी बात है। जो बात जिस प्रकार है उसको उस प्रकार कहना या जानना सो तो सम्यग्ज्ञान है आत्मा का स्वभाव ही है। प्रत्युत इस प्रकार के भेद प्रतिभास को भी आत्मा का धर्म न मानना विकल्प कहकर अधर्म बताना, एकान्त अभेदको ही आत्मधर्म स्वीकार करना तो घोर मिथ्यात्व है आत्मा को अज्ञान स्वीकार करना है।

किञ्च ग्रन्थ की मूल सरणि पर ध्यान दिया जावे तो मालूम होता है कि इस गाथा में आये हुये परमट्ठ शब्द का अर्थ निश्चयनय या उसका विषयभूत अभिन्नरत्नत्रय नहीं है अपितु वह केवली अरहन्त भगवान है जिसका कि वर्णन गाथा नम्बर १५१ में किया जा चुका है और तब फिर इस गाथा का स्पष्ट अर्थ यों हो जाता है कि - जो यति लोग केवली भगवान का आश्रय लिये हुए होते हैं अर्थात् अरहन्त के मत के सच्चे दिल से अनुयायी होकर त्यागी बने हैं वे ही कर्मों का नाश करके मोक्ष भागी होते हैं। यही बात श्री कुन्दकुन्दाचार्य अपने चारित्त पाहुड में भी थोड़े से शब्दों के फेर से यों लिखते हैं -

पव्वज्जसंग चाये पवट्ट सुतवे सुसंजमें भावे।
होइ सुविसुद्धझाणं, णिम्मोहे वीयरायेते ॥१६॥

अर्थात् परिग्रहत्याग रूप निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करो एवं संयम भाव रूप उत्तम तप में प्रवृत्ति करो जिससे कि निर्मल धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रगट होवे और इस प्रकार तुम को मोह रहित पूर्ण वीतरागता प्राप्त हो जावे। मतलब यह कि अगर कोई मोक्ष का मार्ग है तो एक यही है। अस्तु। सम्यग्दर्शनादिक जब आत्मा के स्वभाव हैं तब तो फिर वे आत्मा में है ही उन्हें पैदा करना कैसा सो बताते हैं -

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शन वोध वृत्त ये नष्ट होरहे तीनों ही,
मिथ्या दर्शन कुबोध और कषायों से यों यह मोही।
बना हुआ है जीव कि जैसे मलसे पट का श्वेतपना,
हटकर वह मैला बनता है वैसे यह व्यवहार बना ॥१०३॥

जैसे कि मैल का संयोग पाकर कपड़े की सफेदी नष्ट हो जाती है और वह मैला बन जाया करता है वैसे ही मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायों के द्वारा इस आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सच्चरित्र ये तीनों नष्ट हो रहे हैं न कि चादर से ढके हुए घटादि की भांति छुपे हुए हैं। इसीलिये यह जीवात्मा मोही यानी पागल बना हुआ है।

है स्वभाव से तो यह चेतन सबका दृष्टा या ज्ञाता,
इसके ही अपराधिपने से इसमें अदृष्ट का तांता।
जिससे अज्ञानी होकर के बना हुआ है संसारी,
यों इसका इसको है देखो कर्मबन्ध ही दुखकारी ॥१०४॥

अगर यह आत्मा अपने स्वभाव पर आ जाय तब तो सहज ही दुनियां भर के तमाम पदार्थों का देखने और जानने वाला ही है किन्तु इसने अनादि से कुटेव पकड़ रक्खी है पर पदार्थों में लुभा रहा है जिससे इसके साथ में दैव का संयोग हो रहा है जिससे कि यह अपने आपको खोकर संसारी बन रहा है जैसे कि एक कमजोर आदमी भूसे में जाकर उधम मचाने लगे तो उसकी गरदा उसके गले में जाकर उसे दमेदार बना डाले मतलब कि इसकी खुद की कुचेष्टा ही इसे दुःख दे रही है।

सम्यग्दर्शन बोध वृत्त ये जीव भाव इनके घाति,
दुर्दर्शन अज्ञान कषायाख्यान कर्म नाना भांति।
उसके उदय भाव को पाकर यह चेतन मिथ्या दृष्टि,
अज्ञानी दुश्चरित्र बनकर करता फिर उनकी सृष्टि ॥१०५॥

पहले हम बता चुके हैं कि मोक्ष के हेतु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं जो कि जीव के स्वभाव हैं उनके नाश करने वाले क्रमशः मिथ्यादर्शन अज्ञान और कषाय नामक कर्म हैं जो कि पौद्गलिक हैं जिनके कि उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी और दुश्चरित्र अर्थात् कुटेव वाला बन रहा है। मिथ्यात्वादि कर्म, पौद्गलिक हैं पर द्रव्य हैं अतः विशेष दृष्टि में वे अनेक प्रकार के हैं अतः उनके उदय से होने वाले जीव के भाव भी अनेक होते हैं –

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन्द मन्दतर उदय लिये कुमतादि को कहो,
पुण्य किन्तु वह पाप जहां विपरीत रूप हो।
यही विवेचन मार्ग किन्तु साहसी पुरुष का,
काम एक परिहार आपके कण से तुष का ॥
शूल हटा दी जाय पर फिर भी रहे भरूंट,
निष्कण्टकता के लिये सही वहां तक टूट ॥१०६॥

अब जहां पर उन मिथ्यात्वादिका मन्द और मन्द से मन्दतर उदय होता रहे उस दशा का नाम पुण्य भाव या शुभ हैं एवं जहाँ पर उससे विपरीत रूप अर्थात् मन्द से तीव्र और तीव्र से तीव्रतर उदय हो तो वहां पाप भाव है। नीचे की ओर आ जाना बुरी बात है किन्तु ऊपर की तरफ जाना भला। अपूर्ण अवस्था में एक कर्तव्यशील पुरुष को ऐसा सोचना ही चाहिये कि वह नुकसान से बचते रह कर हर समय नफे के लिए कोशिश करे। किन्तु जो अपने कार्य को पूरा करना चाहता है उसके लिए बीच में ही अटक रहना ठीक नहीं, बालों में से धान को निकाल लिया यह तो ठीक बाकी उसके उपर के छिंलकों को भी हटाना ही होगा चावल तो तभी बनेंगे। जिस मार्ग में काँटे बिछे हुए हैं और उसे साफ सुथरा बनाना है जिस के लिए बम्बूल के शूल तो हटा दिये जायें किन्तु उसमें बिखरे हुए भरूँट फिर बिछे के बिछे ही रहें तब तक वह मार्ग सुचारु हो गया हुआ नहीं कहा जा सकता। बस तो पाप को हटाने के बाद पुण्य से भी मुँह मोड़ना होगा तभी संसार से निर्वृति मिलेगी यही इस अधिकार का मतलब है।

इस प्रकार ज्ञानभूषण महाराज के बनाये हुए विवेकोदय में यह पुण्य पापाधिकार समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

अथास्त्रवाधिकारः

मोह वंचना स्फोति सहित जो योग निमित्तक चञ्चलता,
मैथुन भुजन भीति गृहीति मयी च जीव में सम्बलता।
ज्ञानावरणादिक कर्मों की संग्राहक वह होती है,
उन कर्मों से मोहादिक चेतन में यों समझौती है ॥१०७॥

मोह नाम मिथ्यात्व वञ्चना निरर्गल प्रवृत्ति अर्थात् असंयम भाव और स्फीति उत्सुकता कषाय भाव इनको साथ में लिये हुए आत्मा में जो मन वचन और काय के निमित्त से चपलता प्रगट होती है और जो कि आहार भय मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञावों के रूप में अपना बल दिखलाती रहती है वही ज्ञानावरणादिक कर्मों का उपार्जन करती है यद्यपि यह मोहादिक रूप चपलता कर्मोदय निमित्तक होती है जो कि जीव में तन्मयता लिये होती है।

ऐसा होता है यह हमने कंई बार बतलाया है,
किन्तु न निश्चयसुदृष्टिकेऽपितु अज्ञानी के पाया है।
देख भात को खाने की इच्छा भूखे को होती है,
किन्तु कहो क्या उसकी भी जो व्रत वालों का गोती है ॥१०८॥

फिर भी वह रागादि रहित परम समाधि में तल्लीन शुद्ध सम्यग्दृष्टि के कभी नहीं होती किन्तु संकल्प विकल्प में पड़े हुए पूर्व रागादि से तन्मय होकर रहने वाले अज्ञानी जीव के ही वह दुःखदायक चपलता हुआ करती है जैसे कि भात बने हुए देख कर भूखा जीव खाने के लिये लालायित हुआ करता है अपितु वह जभी तक कि उसने व्रत धारण न कर रखा हो। पर अगर उसने व्रत स्वीकार कर लिया तो फिर भूख होने और भात सामने आने पर भी उन्हें खाने की उसकी भावना नहीं होती। उसी प्रकार कर्मोदय सरागी के समान छद्मस्थ वीतरागी के भी होता है किन्तु उसे कष्ट दायक न होकर रागी जीव को ही दुःख देता है अतः जीव के रागादि भाव ही नवीन कर्मों के बन्ध होने का कारण है सो बताते हैं -

रागादिक भावों के द्वारा बन्ध विधायक होता है,
ज्यों विवाह से पहले होता वचन दान समझोता है।
राग भाव से रहित हुआ तो क्यों कर यह फिर बन्ध करे,
ब्रह्मचर्य का धारक जन भी कहो कभी क्या युवति बरे ॥१०९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे विवाह के पहले सगाई होना जरुरी है परस्पर में बीन्द और बीन्दनी का समझोता हुए बिना विवाह नहीं हुआ करता वैसे ही रागादि भावों के बिना बन्ध भी नहीं होता। क्या जो ब्रह्मचारी है काम वासना से सर्वथा रहित है वह स्त्री का पाणिग्रहण करता है क्या? कभी नहीं। बस तो वीतरागी जीव के नूतन कर्मों का बन्ध दशवें गुण स्थान से ऊपर वाले जीव के बिलकुल भी नहीं होता। उससे नीचे जिसके जैसा राग भाव होता है वैसा बन्ध भी होता है। यहाँ पर मूल ग्रन्थकार स्वामी कुन्दकुन्द ने गाथा में सम्यग्दृष्टि शब्द दिया है सो उसका अर्थ वीतराग सम्यग्दृष्टि ही लेना जो कि ग्यारहवें गुण स्थान से शुरु होता है। क्यों कि इस अध्यात्म ग्रन्थ में निश्चय सम्यग्दर्शन वीतराग सम्यकत्व को ही लेकर वर्णन है सो आगे भी मालूम होगा।

शुद्धात्मानुभूतिमय भेद ज्ञानी के जो सत्व धरे,
पूर्ववद्ध भी कर्म मुष्टिगत विष की ज्यों न विकार करे।
पके हुए फल की ज्यों नग से उदयागत भी कर्म झरे,
किन्तु नहीं नूतन लग पावे यों विराग विज्ञान भरे ॥११०॥

जो और चीजों पर से सर्वथा हटा कर अपने उपयोग को सिर्फ अपनी एक शुद्ध आत्मा के ही अनुभव करने में लगाये हुए है ऐसे भेद ज्ञानी वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के जो पूर्ववद्ध कर्म सत्ता में होते हैं वे सब भी उसकी आत्मा में किसी तरह से विकार पैदा नहीं कर पाते जैसे कि मुट्ठी में रक्खा हुआ जहर कुछ खराबी नहीं करता. तथा उसके जो कर्म उदय में आता है वह भी सहज में झर जाता है और नवीन बन्ध नहीं होता जैसे कि पके धान की बाल सूख कर गिर जाती है और आगे उस पर फिर बाल नहीं आती। एवं वह उस वीतरागता के द्वारा थोड़ी देर में ही पूर्ण ज्ञानी हो जाता है।

मिथ्यात्वादिक चार बात को लेकर चेतन का उपयोग,
चेतन में उपजाता है वह ही तो कर्मबन्ध का रोग।
भेदज्ञान द्वारा जो करता केवल निजात्म का भोग,
उत्कर कीसी तरह न कुछ करता उसके पूर्वार्जित योग ॥१११॥

बात तो यह कि पूर्वोल्लिखित मिथ्यात्वादिक चार बातों को लेकर जो इस जीवात्मा का उपयोग बिगड़ता है वही तो कर्म बन्ध रूप रोग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को उपजाता है। अब जो साक्षात् भेद ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा के ह। अनुभव में मग्न हो रहा है उसके उपयोग में वह बात है नहीं। उसके तो पूर्वोपार्जित कर्म भी निस्सार विपाकोदय शून्य होकर कूड़े करकट की भाँति हो जाते हैं। इस पर एक शङ्का होती है कि जीव का उपयोग ज्ञान दर्शन जो कि आत्मा का स्वभाव है वही बन्ध का कारण बतलाया सो कैसे ?

दर्शन बोध चरित्र जहां तक रहे अधूरे ज्ञानी के,
और रूप परिणमन शील यह रहता अपनी शानी के।
अपर्याप्त उस बोध भाव से यह तो बन्ध किया करता,
है कुछ ना कुछ नूतन ऐसे किन्तु मुक्ति पथ को धरता ॥११२॥

जब तक इस जीव के सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र ये अधूरे रहते हैं तीनों ही क्षायिक रूप में नहीं आ जाते तब तक अन्तमूर्हूत के बाद उसको और रूप परिणमन करना ही पड़ता है। दशवें गुण स्थान के ऊपर जाकर जब पूर्ण वीतरागता होती है वहाँ पर तो बन्ध नहीं होता किन्तु वहां पर या तो अन्तमुर्हूत वाद ही अगर क्षापक श्रेणी रूप में है तब तो केवलज्ञान प्राप्त करके स्थायी निर्बन्ध हो जाता है। अन्यथा तो इसको रागादि रूप में वापिस आना पड़ता है तो वहाँ पर यथासम्भव बन्ध कारक भी होता ही है। हाँ फिर भी वह मुक्ति गामी जरूर ही होता है।

शङ्का - इसमें आत्मा का ज्ञान गुण बन्धक थोड़े ही हुआ बन्ध को तो करने वाला ज्ञान के साथ में जो राग आ गया वही तो हुआ।

उत्तर - भैया जी राग रूप में ज्ञान का ही अथवा यों कहो कि आत्मा का ही तो परिणमन हुआ है जैसा कि मूल गाथा में लिखा है देखो-

जह्मादुजहण्णादोणाणगुणादों पुणो विपरिणमदि।
अण्णत्तंणाणगुणोतेणदुसोबन्धगो भणिदो ॥१७१॥

यहाँ तो आचार्य स्पष्ट लिखते हैं कि अन्यत्वं ज्ञानगुणः परिणमते अर्थात् रागादि रूप में ज्ञानगुण (या आत्मा) ही परिणमन करता है। इसी प्रकार गाथा नं. १६४ में लिखा है 'वहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा' अर्थात् जीव में अनेक तरह के रागादि भाव होते हैं जो कि आत्मा से अभिन्नरूप आत्मा के ही परिणाम हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शङ्का – इसी समयसार जी में पहले – 'कोहेकोहोणाणेणाणं' अर्थात् ज्ञान और राग एक जगह होकर भी राग राग में है और ज्ञान२ में ऐसा भी तो लिखा है।

उत्तर – ज्ञान ज्ञानमय है और क्रोध क्रोधमय इस कहने का मतलब तो यही कि ज्ञान तो है आत्मा का गुण वह त्रैकालिक है आत्मा में सदा रहने वाला है और क्रोध उसकी विकृत पर्याय है जोकि तात्कालिक है नष्ट हो जाने वाली है।

शङ्का – गाथा नं. ४४ में आचार्य ने इन रागादिकों को पौद्गलिक स्पष्ट रूप से बतलाया है सो क्यों ?

उत्तर – वहां उनको पौद्गलिक बतलाने का भी मतलब यही है कि क्रोधादि सब इस आत्मा में पुद्गल द्रव्य के निमित्त से होते हैं उसके बिना नहीं होते परन्तु उपादान उन सब का आत्मा ही होता है ऐसा गाथा नं. १३७ तथा १३८ में बतलाया जा चुका है एवं आगे भी बतलावेंगे। अतः मान लेना चाहिये कि वर्तमान में रागादि रूप परिणमन आत्मा का ही है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव तो रागादि मय बना हुआ है ही किन्तु ज्ञानी जीव भी जब तक अनुत्तीर्ण है तब तक उसका ज्ञान या सम्यक्त्व ही रागमय होता है और वही बन्ध करता है यही बात गाथा नं. १७१ और १७२ में भी बतलाई है और यही बात श्री तत्वार्थ सूत्र के "सम्यक्त्वं च" सूत्र में भी कही गई है। हां जब परम समाधि रूप वीतराग अवस्था पर पहुँच जाता है तो वहां पर बिलकुल बन्ध नहीं करता। परन्तु –

गही हुई भी प्रकृति नहीं दोनों के एक समान बने,
अज्ञानी के और भांति ज्ञानी के और हि भांति सने।
नौजवान युवती सी अज्ञानी के फलदायक होती,
ज्ञानी के तो लिये बालपन वाली सी होकर सोती ॥११३

रागादिक युत अज्ञानी के ज्ञानावरणादि कहावे,
किन्तु विरागबोध वाले के सातमात्र हो बह जावे।
बह्निशील का भोजन जैसे रक्तादिक मय होता है,
अपितु जरा वाले का वह ही फोक भाव को ढोता है ॥११४॥

मिथ्या दृष्टि और सम्यग्दृष्टि के कर्मों के उदय में और कर्मों के बन्ध होने में बड़ा भारी अन्तर होता है। अज्ञानी मित्थादृष्टि के तो बान्धे हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म नौजवान सुयोग्य स्त्री की भाँति उसे विकृत बनातेहुये अपना पूरा फल किया करते ही हैं किन्तु ज्ञानी वीतराग सम्यग्दृष्टि के वे ही कर्म एक नन्ही सी स्त्री के समान उदय में आकर भी व्यर्थ होते हैं उसे विकारी नहीं कर पाते। रही बीच के सराग सम्यग्दृष्टि की बात सो उसके अपने अपने गुण स्थानानुसार जैसा जैसा संकल्प विकल्प हुआ करता है वैसा वैसा ही कर्मों के उदय से उसके भी विकार बनता ही रहता है। इसी प्रकार नवीन कर्मों के ग्रहण करने में भी अज्ञानी और ज्ञानी के फरक होता है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के जो कर्म वर्गणायें आती हैं वे सब जब तक आयु बन्ध न हो पाया तब तक तो ज्ञानावरणादि सात कर्मों के रूप में और आयु बन्ध हो जाने के बाद आठों कर्मों के रूप में हर समय ही परिणमन करती रहती है। ज्ञानी वीतरागी जीव के भी आती है सही किन्तु एक सातवेदनीय के रूप में परिणमन करती हुई उसी समय वापिस भी चली जाती है ठहरती नहीं हैं। बाकी इन दोनों के बीच का सराग सम्यग्दृष्टि है उसके भी अपने राग भाव के अनुसार कर्मबन्ध तो होता है परन्तु उसका वह प्रशस्त राग है इसलिए उसके तीर्थंकर नाम कर्मादिरूप बन्ध होकर परम्परा मुक्ति का कारण बनता है। जैसाकि तात्पर्य वृत्ति में भी- 'भेद ज्ञानी स्वकीय गुण स्थानानुसारेण परम्परया मुक्ति कारणभूतेन तीर्थंकर नाम कर्मादिरूपेण विविध पुण्य कर्मणाबध्यते इति।' मतलब यही कि जैसा जिसके राग भाव होता है वैसा उसके बन्ध होता है और विरागी के नहीं होता जैसे कि हम लोग भोजन करते हैं तो जिसकी जैसी जठराग्नि होती है उसके अनुसार रक्तादि के रूप में परिणमन करके वह हमारे शरीर को पुष्ट करता रहता है, और जो वृद्ध हो गया जिसकी जठराग्नि अपना उचित कार्य नहीं करती उसका खाया हुआ भोजन रक्तादिमय न बन कर सिर्फ फोक मात्र बनता हुआ अधोमार्ग से निकल जाता करता है।

मिथ्यात्वादिक चार हेतु आठों कर्मों के गाये हैं,
मोह रोष राग प्रमोष ये इनके भी तो पाये हैं।
वे नहि बने सुदृष्टि जीव के तो कैसे हो बन्ध कहो,
डंके बिना नगारा होकर भी दे क्या आवाज अहो ॥११५॥

मतलब यह कि निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव के सिर्फ योग मात्र हेतुक द्रव्याश्रव तो होता है फिर भी बन्ध बिलकुल नहीं होता इसका कारण यह कि बन्ध के जो चार कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग बताये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

हैं, उनके भी सहयोगीकारण मोह, द्वेष, राग और अनात्म सम्वेदित्व ये चार कहे हुये हैं इन चारों में से भी कोई न कोई एक होना चाहिये तभी बन्ध होता है अर्थात् भावाश्रव के बिना द्रव्यास्रव अपना कार्य नहीं करता जैसे डंके की चोट के बिना नगारा अपनी आवाज नहीं दिया करता। सो उन उपर्युक्त चारों प्रकार के भावाश्रवों में से वीतराग सम्यग्दृष्टि के कोई सा भी नहीं होता अतः उसके बन्ध कैसे हो सकता है।

जठरानलवल प्राप्त हुये मानव का जैसे,
मुख से खाया अन्न बने रक्तादिक वैसे ।
देहादिक बलतया कर्म पुद्गल जो आवे,
ज्ञानावरणप्रभृति रूपता को वे पावे ।
राग रोष सम्बन्ध से इस संसारी जीव के,
इनका आश्रव नाम यों सुख होवे इनके रुके ।।११६।।

इस प्रकार विवेकोदय का आश्रवाधिकार समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री दि. जैन (शोध) ... 4527

अथ सम्वराधिकार

कर्म और नोकर्म कोप आदिक भी न ज्ञानीमय हो,
न ज्ञानी इन मय हो ऐसा अनुभव होकर प्राप्त रहो।
फिर क्यों बने विकारभाव यों सम्वर होता ज्ञानी के,
जो निजात्म तल्लीन उसे हो नमस्कार मेरा नीके ॥११७॥

जिस समय ज्ञानी विवेकी जीव को – ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म, औदारिक शरीरादि नोकर्म और रागद्वेषादि भाव कर्म इनसे मेरा सच्चिदानन्द आत्मा भिन्न है और ये सब मेरी शुद्धात्मा से बिलकुल पृथक हैं। इनसे मेरी आत्मा का कोई मेल ही नहीं बैठता, मैं व्यर्थ ही इनको अपने मान कर क्यों उलझन में पड़ूं इत्यादि विचार रूप बुद्धि के द्वारा जिसने अपनी आत्मा को इन सबसे अलहदा कर लिया हो अतः अपने आत्म स्वरूप में ही तल्लीनता प्राप्त हो चुकी हो ऐसे स्वानुभव में एक मेक होकर रहे हुए महात्मा के नूतन कर्मों का आना और आत्मा से आकर एक मेक होकर रहना कभी सम्भव ही कैसे हो सकता है वह तो सहज सम्वर रूप है उसको मेरा तो मन वचन और शरीर तीनों से नमस्कार है। वह योगीश्वर तो –

घोर परीषह उपसर्गों से भी घिर कर यति राज जरा,
नहीं विकार भाव अपनाता तजकर आत्मानन्द धरा ।
कितना भी क्यों नहीं तपाया जाय अग्नि में सोने का,
सोना ही वह बना रहेगा और रूप नहि होने का ॥११८॥

अपनी आत्मा के अनुभव में ऐसा तल्लीन होकर रहता है कि बाहर की दुनियाँ में क्या हो रहा है उसकी उसे कोई खबर नहीं रहती । उसकी शरीर पर चाहे जितना परीषह हो चाहे जितना उपसर्ग आवो उसका भी उसे भान नहीं होता मानों शरीर उसके लिये कोई चीज है ही नहीं, वह उससे जरा भी विचलित नहीं होता उसका तो ध्यान आत्मानुभव के सिवा और तरफ बिलकुल जाता ही नहीं सो ठीक ही है सुवर्ण को अग्नि में कितना ही तपाते रहो वह तो सोना का सोना ही रहता है ।

अज्ञानी जिनसे डर करके झट विचलित हो जाता है ।
ज्यों वस्त्रादि वह्नि से जलकर भस्मभाव को पाता है ॥
यही एक आत्मानुभूति पर भूति की बड़ी रेखा है।
क्योंकि रहित चेतन पर उपद्रवों का लेखा है ॥११९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** *************************

जिन परीषह और उपसर्गों का नाम सुनकर भी यह दुनियाँदारी का अज्ञानी जीव घबरा जाया करता है जैसे कि वस्त्र वगैरह अग्नि से जलकर भस्म हो जाता है। यही भेद विज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर है। देखो जो आदमी एक समय सरसों के दानों की पीडा को भी सह न सके वही स्यालिनी के द्वारा या बाघनी के द्वारा खाये जाने वाले अपने शरीर को भी मालूम न कर पावे यह भेद विज्ञान रूप स्वानुभव की ही तो महिमा है क्योंकि जो केवल अमूर्तिक आत्मा से तन्मय हो रहा है वहां पर इन उपसर्गों का लेन देन क्या है ये सब तो शरीर पर होते हैं। हाँ जिनके कि अनुभव में शरीर के साथ कुछ भी लगाव रह जाता है जरासी भी मोह ममता बनी रहती है तो वह ऐसे मोके पर विचलित हुए बिना नहीं रहता । भले ही वह उससे डर कर उठ न भाग रहा हो उसे अपने मन को मसोस कर सह भी रहा हो किन्तु यह मेरा शरीर इससे बिगड़ रहा है या मुझे कष्ट हो रहा है ऐसा विकल्प तो आ ही जाता है ताकि बन्ध भी हुए बिना नहीं रहता ।

जो जैसा शोचता स्वयं वैसा ही बनकर रहता है।
राग रोष तजकर संज्ञानी सहज शुद्धता गहता है ॥
अज्ञानी अज्ञान भाव को ही अपनाता रहता है।
इसीलिये नर नारकादि पर्याय रूप में बहता हैं ॥१२०॥

भावना फलदायिनी ऐसी एक सूक्ति भी है जो जीव जैसी विचारधारा को लेकर चलता है वह वैसा ही हो जाया करता है। ज्ञानी जीव जो है वह विकार रहित भेद ज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा को भाव कर्म, द्रव्य कर्म और नो कर्मों से रहित अनन्त ज्ञानादि गुण विशिष्ट रूप से चिन्तवन करता है तो वह उसको उसी रूप में प्राप्त भी कर जाता है क्योंकि वह आगे के लिए होने वाले कर्मों के आश्रव को कारण भूत रागद्वेष की सन्तान को उस अपने उपर्युक्त विचार से रोक देता है पैदा ही नहीं होने देता। परन्तु जो अज्ञानी संसारी जीव होता है वह अपने आपको रागद्वेष मोहादिमय ही मानता रहता है और इस प्रकार वह उनका कभी दमन करना ही नहीं चाहता बल्कि उनके बढ़ाने में लगा रहता है इसलिए संसार से नहीं छूट पाता । अपने आपको नरनारकादि रूप अशुद्धता में ही बहाये चलता है । परन्तु ज्ञानी जीव किस प्रकार से अपने को संसार से निवृत्त करता है सो बताते हैं -

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

पुण्य पाप पर से अपने को अपने आप हटा करके ।
निज सम्वेदन बल से पर इच्छावों को विघटा करके ॥
वाह्यभ्यन्तर सर्वं परिग्रह रहित हुआ जब ही ध्यावे ।
दर्शन ज्ञान लीन होकर के बातें इतर भूल जावे ॥१२१॥

ज्ञानी जीव जानता है कि मेरी आत्मा वस्तुतः शुद्ध है। वर्तमान में जो ये रागद्वेष हो रहे हैं वे सब मेरे अज्ञान के फल हैं। मैं व्यर्थ ही इन दुनियाँ की चीजों को मेरी मान कर इनकी उलझन में पड़ा हुआ हूँ इसी से किसी को भला और किसी को बुरा मान कर रागद्वेष करने पड़ते हैं ऐसा विचार कर उन से उरिण होने के लिए वह अपनी बुद्धि में क्रम बांधता है तो सब से पहले आम तौर पर सब का बिगाड़ करने वाली पाप प्रवृत्तियों से दूर होता है उन से बचे रहने के लिए भली बातों में लगकर अपने आपको सावधान बनाता है । फिर अपनी आवश्यकताओं को कम करते हुए धीरे-धीरे उनसे भी उऋण होकर बाहिरी और भीतरी सभी तरह की सांसारिक वासनाओं से रहित होते हुए शुद्ध अपने आत्म चिन्तन में लगता है वहाँ और सब बातों को भुला कर सिर्फ ज्ञान और दर्शनमय अपनी आत्मा ही उसकी दृष्टि में रहती है ।

यों अद्वैतभाव अपना कर कर्म और नो कर्मों से ।
भी वह शीघ्र रहित हो जावे केवल बोध भाव पोषे ।
कुमता-विरति कषाय योग यों अध्यवसान न होने से ।
नहीं रोष रागादि बने फिर कर्म कौन से कौने से ॥१२२॥

आवे क्यों नो कर्म बने फिर यों संसृतिका ज्ञानी के ।
हो जाता अभाव अपने से मान लिये जिन वाणी के ॥
यों है पहिला काम जीव का जिन वाणी के पढने का ।
वरना नहीं अभाव बने संसार वृक्ष के बढने का ॥१२३॥

इस प्रकार द्वैत होते हुए भी आत्म मात्र अद्वैत भाव को स्वीकार करने पर फिर कुछ ही देर में कर्मों से तथा नो कर्म इस शरीर से भी रहित होकर सिर्फ ज्ञान शरीर वाला हो लेता है। मतलब यह कि इस प्रकार के शुद्धात्मा के विचार करने से कर्म और आत्मा को एकमेक मानने से होने वाले मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग इनकी ताकत कम हो जाती है अथवा मिट ही जाती है ताकि रागद्वेष नहीं हो पाते और रागद्वेष के न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होने से नवीन कर्म बन्ध होना रूक जाता है और कर्म बन्ध जब नहीं तो फिर नूतन शरीर न होकर संसार का अभाव हो लेता है । इस तरह श्री जिन भगवान् के मत को अर्थात् स्याद्वाद को स्वीकार करने से आत्मा का भला हो जाता है। परन्तु जो अपनी आत्मा को शुद्ध ही मान कर अपनी कर्तव्य परायणता को छोड़ बैठता है वह पापों में फंस क़र उलटा बिगाड़ ही कर लेता है एवं सब से पहला कार्य इस जीवात्मा के लिये स्पष्ट जैन शास्त्रों का अभ्यास करना स्थित होता है इसके बिना और कोई संसार से छूटने का उपाय नहीं है।

जिन वाणी को पढ़े और मन इन्द्रिय जीते।
सुख दुख को सम गिने क्योंकि समता सब हीतें।।
नहीं किसी से नेह और हो वैर किसी से।
धन्य धन्य ऋषिराज बने निर्बन्ध इसी से ।।१२४।।

जस्सणविज्जदि रागोदोसो मोहोय सव्वदव्वेसु।
णासयदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्म भिक्खुस्स ।।१२५।।

यह इन्हीं श्री कुन्द कुन्दाचार्य के पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ की गाथा है इसमें बतलाया है कि जो सम्पूर्ण वाह्य पदार्थों के ऊपर होने वाले अपने राग द्वेष को मिटाकर अर्थात् उन सब का त्याग करके निर्मोह हो लेता है । साँसारिक सुख दुःख दोनों में जिसकी एक समान बुद्धि हो जाती है ऐसा साधु पुरुष ही पुण्य और पाप दोनों का नाश करके बन्ध रहित होता है। मतलब जो लोग समझते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने तो आपा पर के ज्ञान कर लेने मात्र से ही संसार का अभाव होना बतलाया है तो वे ऐसा समझने वाले लोग भूल करते हैं । आचार्य श्री ने तो वही मार्ग बतलाया है जैसा कि समन्तभद्रादि इतर जैन महर्षियों ने भी बतलाया है।

इस प्रकार ज्ञान भूषण महाराज के बनाये हुए विवेकोदय में यह सम्वराधिकार पूर्ण हुआ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ निर्जराधिकार

कर्मोदयकृत सुख या दुख सम्यक्त्वी के भी होता है,
उसे भोग कर वीतरागता के बल पर वह खोता है ।
अज्ञानी की भांति न उस में हँसता है या रोता है,
किन्तु एक सच्चिदानन्द में स्वयं लगाता गोता है ।।१२५।

यद्यपि प्रतिपल कर्म रेणुहति सब जीवों के है मानी,
गजस्नान की भांति उसे फिर ले लेता है अज्ञानी ।
सावधानता पूर्वक ज्ञानी धोबी की ज्यों धोता है,
भेदज्ञान साबुन से आतम कपड़ा उज्जवल होता है ।।१२६।।

यहाँ श्री समय सार जी में गाथा में - सम्यग्दृष्टि जो कुछ भी अपनी इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोगोपभोग करता है तो उसका वह भोगोपभोग भी सिर्फ निर्जरा का ही कारण होता है किन्तु उसके नवीन बन्ध बिलकुल नहीं होता ऐसा लिखा है। सो मूल ग्रन्थ कार ने सम्यग्दृष्टि शब्द से वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया है और उसको लेकर समयसार जी का यह कथन चलता है जैसा कि आत्म ख्याति टीका में- विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव रागादि भावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतनान्यद्रव्योपभोगो बन्ध निमित्तं स्यात्। अर्थात् वीतराग (सम्यग्दृष्टि) जीव के भोगोपभोग होता है वह निर्जरा के लिये ही निमित्त बनता है न कि बन्ध के लिये । बन्ध तो मिथ्यादृष्टि (सरागी) के होता है क्यों कि उसका वह उपभोग रागादि पूर्वक हुआ करता है। मतलब यह कि यहां मोह को मिथ्यात्व माना है भले ही वह दर्शन मोह हो वा चारित्र मोह । और उन दोनों का बिलकुल अभाव होने पर ही जीव सम्यग्दष्टि होता है अतः अब यह अपने आप आ जाता है कि जो पूर्ण मिथ्यादृष्टि है दर्शन मोह युक्त है उसके तो बन्ध ही होता है निर्जरा होती ही नहीं। सो सविपाक निर्जरा समय-समय पर होती रहती है वह बन्ध को लिये हुए होती है जिसकी यहाँ बिवक्षा नहीं है। आगे जिसके जितने-जितने अंश में मोह का अभाव होता चला जाता है उसके उतने-उतने अंश में बन्ध का अभाव पूर्वक निर्जरा होने लगती है। चतुर्थ गुण स्थान वर्ती अव्रत सम्यग्दृष्टि के दर्शन मोह का अभाव हो जाता है तो उसके तज्जन्य बन्ध भी नहीं होता । देश व्रती श्रावक के अप्रत्याख्यानावरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कषाय नाम मोह का भी अभाव हो लेता है तो उसके उस जन्य बन्ध भी दूर हट जाता है इस प्रकार क्रम से जिसके पूर्ण मोह का अभाव हो जाता है वह पूर्ण सम्यग्दृष्टि होने से उसके बन्ध का भी सर्वथा अभाव होता है ऐसा तात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य ने स्पष्ट लिखा है। अब क्षीणमोह नामक गुणस्थान वर्ती छद्मस्थ वीतराग जो कि अपने उपयोग से सिर्फ आत्म निमग्न होता है उसके भी पूर्व कर्मोदय से संसार के भले बुरे पदार्थों का प्रभाव उसके शरीर पर होता रहता है वही भोगोपभोग है जिसके कि होते हुए भी बन्ध (साम्परायिक) बिलकुल नहीं होता यही इस गाथा का मतलब है। इसी प्रकार से -

पुष्पवृष्टि आदिक सयोगि जिनवर के भी तो होती है,
उन्हें जानते हैं कि हमारे कर्मोंदय से होती है ।
ऐसा जीवभाव होता है फिर भी राग न होने से,
जातु न बन्ध निर्जराही है उदासपन के ढोने से ॥१२७॥

श्री तीर्थंकर परमेष्ठि के संयोग केवली अवस्था में जो पुष्प वृष्टि और चोसठ चमरों का ढुरना वगैरह होता है वह उन के सात वेदनीय एवं तीर्थङ्कर नाम कर्म के उदय से हुआ करता है जिस को वे भगवान् जी अपनें ज्ञान से जानते हैं कि ये सब हमारे कर्म के उंदय से हो रहे हैं ऐसा जीव भाव उन के भी होता है जैसा कि आत्मख्याति में – 'उपभुज्यमाने सतिहि परद्रव्येतन्निमित्तः सातासात विकल्पानतिक्रमेणवेदनीयः सुखरूपोदुःखरुपोवा नियमादेव जीवस्यभाव उदेति।' और इसीलिये उनके क्षायिक भोग अथवा क्षायिक उपभोग भाव तत्वार्थ सूत्र में बताया गया है ऐसा होते हुये भी वे वहाँ पर भला बुरापन मानकर हर्ष विषाद नहीं करते सिर्फ जानते मात्र हैं अतः उनके बन्ध नहीं होता । अब राग के बिना भोगोपभोग होते हुए भी कर्म बन्ध नहीं होता इस बात के लिये उदाहरण देते हैं-

विषापहारकशक्ति युक्त जो वैद्य महाशय होता है,
विष खाना भी उसका उसको नहीं ज्यान से खोता है ।
कर्मोंदय को भोगा करता है जो भी यतिपति होता,
फिर भी परमसमाधि शक्ति से नूतनबन्ध नहीं जोता ॥१२८॥

जिस विष के खा लेने से सर्व साधारण आदमी का मरण हो जाया करता है उसी विष को खाकर गारुडी आदमी अपने मन्त्र की सामर्थ्य से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

नहीं मर पाता वैसे ही कर्मों का उदय जो अज्ञानी जीवों को बन्ध का कारण होता है उस कर्मोदय को भोगते हुए भी परम समाधि में स्थित योगिराज अपने वैराग्य भाव के बल से बन्ध को प्राप्त नहीं हुआ करते। और भी उदाहरण -

नहीं दवायुत आसव पीकर भी कोई पागल होता,
प्रत्युत अपने हुये रोग को भी वह है जड़ से खोता ।
नाना वस्तूपभोग करने वाला भी सम्यग्दृष्टि,
यथा योग्य वैराग्य भाव से करे न नूतकर्म सृष्टि ॥१२९॥

जो आसव नशा करने वाली चीज है आदमी को पागल बना देती है उसी को यदि किसी दवा के साथ उसके पालन के रूप में सेवन की जाय तो वह पागलपन न करके उसके पहले वाले रोग को भी नष्ट कर दिया करती है उस ही प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी नाना प्रकार के भोगोपभोग में होकर भी उसके द्वारा नवीन कर्म बन्ध न करके पुरातन कर्म को खपाता है जितना कि जिसको वैराग्य होता है । जो आदमी परम समाधि में तल्लीन होकर पूर्ण वीतरागी होता है वह बिलकुल ही निर्बन्ध होता है उससे नीचे वाला जो जितना रागांशमय होकर परम समाधि से दूर होता है उसके उतना ही बन्ध भी होता ही है। राग बन्ध का कारण है -

सम्मेलकजन सामिल हो करके विवाह का काम करें,
फिर भी वैसी खुशी खाशकर अपने मन में नहीं धरें ।
नहीं काम करके भी जैसे विवाह वाला सैलानी,
यों अवन्ध वा बन्धक माना जाता ज्ञानी अज्ञानी ॥१३०॥

जैसे दुलहा और बरातियों में से विवाह सम्बन्धी काम तो बराती लोग किया करते हैं दुलहा तो बैठा रहता है फिर भी उसका फल-लड़की के फन्दे में पड़ना दुलहे के लिये होता है वैसे ही ज्ञानी संयोग केवली भगवान् यद्यपि धर्मोपदेशादि करते हैं किन्तु निरीह होने से उन के बन्ध नहीं होता और अज्ञानी संसारी जीव भले ही किसी समय स्पष्ट रूप से कुछ भी न कर रहा हो फिर भी समीप होने से उसके बन्ध होता रहता है।

सांचे विचार वाला मानव यों विचारता रहता है,
कर्मों का विपाक जो नाना प्रकार होकर बहता है ।
वह मेरा स्वभाव न कभी भी मैं ज्ञायक पद एक सही,
यों उपयोग रूप होने से उसका जरा बिगाड़ नहीं ॥१३१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ***************************

सांचे विचार वाले विराग सम्यग्दृष्टि का विचार यह रहता है कि यह जो नाना प्रकार का कर्मों का विपाक होता है वह सब मेरा स्वभाव थोड़े ही हैं मैं तो एक ज्ञायक मात्र हूं ऐसा विचार कर वह उन कर्मों के फल के बारे में हर्षविषाद रहित होता है। सिर्फ ज्ञान दर्शनोपयोगमय ही बना रहता है अतः उसके दिल में कोई भी विकार न होकर शान्त होता है

पुद्गलकर्म विपाक वशीकृत रागरोष ये होते हैं,
मुझ ज्ञायक से भिन्न एक मैं ये अनेकता ढोते हैं ।
यों यथार्थता पर जम करके जो विकार से दूर टरे,
सत्यबोध वैराग्ययुक्त वह कहो न कैसे कर्म हरे ॥१३२॥

जो वस्तुतः ज्ञानी होता है वह ऐसा विचार किया करता है कि जो ये रागद्वेष वगैरह भी होते हैं जिनको कि आज तक मैं मेरे स्वभाव समझे बैठा था वे सब कर्मों के उदय से होने वाले मेरे लिए वबाल हैं मैं तो ज्ञायक हूँ और एक हूँ किन्तु ये ज्ञेयमय एवं अनेक होते हैं अतः मेरे स्वभाव कैसे हो सकते है और जब ये मेरे स्वभाव नहीं तो फिर मैं इन्हें अपने में पैदा ही क्यों होने दूं। इस प्रकार के विचार द्वारा वह ठीक ज्ञान और वैराग्य के ऊपर आ जाता है अतः फिर सहज ही में कर्म रहित हो जाता है। फिर उसके कर्म कैसे रह सकते हैं आगे आचार्य महाराज बताते हैं कि यह जीव सम्यग्दृष्टि कब होता है -

जिस के दिल में लेशमात्र भी रागादिक का हो बाकी,
निज सम्वेदन बिना वहां–परसम्वेदन भी तो है खाकी ।
जीवाजीव बिना जाने यों कैसा वह सम्यग्दृष्टि,
द्वादशाङ्ग पाठी भी होकर जहां नहीं विवेक सृष्टि ॥१३३॥

इन नं. २०१ और २०२ की गाथा में आचार्य महाराज ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जिसके रागादिक अज्ञान से होने वाले भावों का यदि जरासा भी अंश विद्यमान है तो फिर भले ही वह श्री श्रुत केवली के समान द्वादशाङ्ग का जानकार भी क्यों न हो फिर भी उसके ज्ञानमय भाव नहीं हो पाता और ज्ञानमय भाव न होने से वह अपनी आत्मा को यथार्थ नहीं जान पाता और जो आत्मा को नहीं जानता जिसको अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं वह पर को भी कैसे जान सकता है क्यों कि अपने रूप का होना और पर रूप का न होना इन दोनों के द्वारा ही हर एक वस्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

का निर्णय हुआ करता है। एवं जिसको आत्मा और अनात्मा का ज्ञान नहीं वह जीव तथा अजीव दोनों के बारे में अन्धा है फिर वह सम्यग्दृष्टि कैसा। सारांश यह कि जहाँ तक राग का जरासा भी अंश है वहाँ तक यथार्थ ज्ञान के न होने से सम्यग्दृष्टि नहीं किन्तु बारहवें गुण स्थान में जहां वीतराग बन जाता है वही सम्यग्दृष्टि होता है। जैसा कि आत्मख्याति में – 'यस्य रागाद्यज्ञानभावनां लेश तोऽपि विद्यते सद्भावः, भवतु स श्रुत केवलि सदृशोऽपि तथापि ज्ञानमयभावानामभावेन न जानात्यात्मानं। यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति स्वरूपपररूप सत्ता सत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात् । ततोय आत्मानात्मानौ न जानति स जीवाजीवौ न जानाति । यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टि रेव न भवति । ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः' बल्कि तात्पर्य वृत्ति कार ने तो जबकि सम्यग्दृष्टि जीव रागी नहीं होता तो फिर गृहस्थावस्था के तीर्थंकर भरत राम वगैरह भी सम्यग्दृष्टि नहीं ठहरते हैं इस प्रकार शङ्का उठाकर उसके जवाब में बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि उनके सराग सम्यक्त्व होता है परन्तु यहाँ पर वीतराग सम्यक्त्व को लिया गया है मतलब कि श्री समयसार जी के कथन को जो लोग चंतुर्थ गुणस्थान परक मानते हैं वे गलती करते हैं। इस समयसार जी की दृष्टि में तो चतुर्थ गुण स्थानी जीव सम्यग्दष्टि नहीं होता । जैसे राजा होने वाले राजा के लड़के को भी राजा कह दिया जाता है द्रव्यनिक्षेप मान कर वैसे ही उसे भी सम्यग्दृष्टि (वीतरागी) कहा जाता है । सो ही नीचे भी बतलाते हैं –

हे आत्मन् यदि सच्चा है तो अथिर अनेक अपद ऐसे,
इन सबको तज करके तू फिर क्यों नहि अपनाता कैसे ।
एक स्थिर ज्ञायकपन को जो तेरे अनुभव गोचर है,
यतिवर कहते हैं यों प्यारे क्यों उससे तू दूर रहे ॥१३४॥

श्री सर्वज्ञ भगवान् उस सराग सम्यग्दृष्टि से कहते हैं कि हे भव्यात्मन् अगर तू सच्चा है तो फिर ये रागादि भाव जो टिकाऊ नहीं हैं अनेक हैं अतः तेरे स्वभाव नहीं हैं उनको त्याग करके सदा बना रहने वाले एक स्वरूप उस ज्ञायकपन को जिसे किं तू मान चुका है स्वीकार क्यों नहीं करता उससे दूर रहकर इन रागादिक में अब भी क्यों फंसा हुआ है। इससे तो मालूम होता है कि अब भी तू कुछ असमञ्जस में पड़ा हुआ है शायद तू सोच रहा है कि ज्ञायक रूप भी एकसा कहाँ है अपितु मति श्रुतादि के रूप में बटा हुआ प्रतीत होता है परन्तु नहीं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** ************************

घन विघटन से रवि के प्रकाश की ज्यों मति आदिक होते,
वे न ज्ञान के एकपने को कही वस्तुतः है खोते ।
किन्तु उसे ही बतलाने को अपना बल दिखलाते हैं,
जिस ज्ञायकपन को पा करके यतिगण निर्वृति पाते हैं ॥१३५॥

जैसे बादलों से सूर्य ढका हुआ होता है जैसे-जैसे उस पर से बादल हटता है वैसे-वैसे सूर्य या उसका प्रकाश प्रगट होता रहता है तो वहाँ पर वे सब तो हीनाधिक रूप में बादल के हटने के प्रकार हैं उनसे सूर्य में या उसके प्रकाश सामान्य में कोई भेद थोड़ा ही आ जाता है । क्रमशः उस बादल के दूर होने से उस सूर्य के टुकड़े हो जाते हैं क्या ? किन्तु नहीं । उसी तरह कर्म पटल के क्षयोपशमानुसार प्रगटपने को प्राप्त होने वाला आत्मा का ज्ञान जो है उसके हीनाधिक रूप को लेकर जो मति ज्ञान वगैरह भेद कहे जाते हैं उनसे उस ज्ञान सामान्य के टुकड़े न होकर उलटा वह प्रकाश में ही आता है। अतः जिसमें समस्त भेद दूर हो गये हैं ऐसे आत्मा के स्वभावभूत एक ज्ञान को अवलम्बन करके रहना चाहिये उसी से स्वपद की प्राप्ति होती है अनात्मा भाव का परिहार होता है कर्मोदय की वासना नहीं रहती रागद्वेष मोह भाव पैदा नहीं हो पाता ताकि आश्रव भाव न होने से कर्म बन्ध को मौका न मिलकर निर्जरा ही होती है।

घोर तपश्चरणादिक करके भी तो कितने ही योगी,
जिस निज वेदन बिना न सीझे हो यद्यपि सुरपद भोगी ।
यदि उत्तम अविनश्वरपद के गाहक तुम हो हे साधो,
तो उसमें तल्लीनता लिये हुये एकता को साधो ॥१३६॥

इसका यह मतलब नहीं कि वाह्यत्याग तपश्चरण कोई महत्व ही नहीं रखता अपितु किसी किसान ने खेती करी उस में लाण खूब बढ़ी परन्तु अखीर तक भी उसमें बाल-सिरा एक भी न आ पाया ताकि धान्य अनाज पैदा हो सिर्फ भूसा ही भूसा होगा जोकि पशु के खांने के काम में आयेगा। हाँ यह बात अवश्य कि उस लाण के हुए बिना धान्य हो नहीं सकता। उसी प्रकार बिना त्याग तपश्चरण के परम समाधि रूप परिणाम नहीं हो सकता जिससे कि मुक्ति हो जाये किन्तु तपश्चरण मात्र से तो स्वर्ग सम्पत्ति ही प्राप्त होगी मुक्ति नहीं । क्योंकि तपश्चरण भी शरीर से होता है और शरीर आत्मा से भिन्न चीज है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ *************************

आप आपका हो सकता है नहीं दूसरा यथार्थतः
इस जड़ शरीर को अपनावे क्यों फिर ज्ञानी आप यतः ।
जब शरीर ही पर तो सारे इस शरीर के नाते हैं,
यों विचार इस ज्ञानी जन के अपरिग्रह पर आते हैं ॥१३७॥

जले गले छीजे या भीजे या विलीन भी हो जावे,
देह नहीं इसका तो चेतन क्यों आकुलता को पावे ।
यों निरीह होकर अपरिग्रहपूर्ण भावना पर आवे,
तो इसके उत्तरक्षण में ही निरावरण भी बन जावे ॥१३८॥

यदि अपरिग्रह हुआ वहां अशनादिक की तो कहां कथा,
रहे जहां पर नहीं पूज्य पूजादिक सी भी धर्म प्रथा ।
केवल आत्म–भाव का ही सर्वेसर्वा निस्तारा हो,
हानादान बिना यों चलकर सबका जानन हारा हो ॥१३९॥

जब इस प्रकार के विचार पर आता है कि एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य कोई कुछ साथ नहीं दे सकता सब द्रव्यों का अपना-अपना परिणमन भिन्न-भिन्न होता है। एवं यह शरीर तो जड़ है और मैं चेतन हूँ अत: यह मेरे से भिन्न है। और जब शरीर ही मेरे से भिन्न है तो ये और सारे ही दुनियाँदारी के नाते तो इस शरीर के ही साथ हैं इनमें तो मेरा फिर है ही क्या? तब और सब को तज कर पूर्ण निरीह होते हुए वह ज्ञानी जीव सिर्फ अपने आत्म चिन्तन में तल्लीन हो रहता है। उस समय सातवें गुण स्थान से ऊपर शुक्ल ध्यान रूप परम समाधि काल में उसको इस बात का भी भान नहीं होता कि यह शरीर छीज भीज रहा है सड़ता गलता है। एवं कुछ भी होता हो उसकी तो निगाह एक अपनी शुद्ध आत्मा पर रहती है। ऐसी हालत में खाने, पीने, सोने वगैरह की तो बात बिलकुल ही बाहर की है बल्कि अमुक मेरा गुरु है मैं उसका शिष्य हूँ उसकी सेवा करना मेरा कर्तव्य है इत्यादि व्यावहारिक धर्म रूप विचार भी इससे बिलकुल दूर हो जाते हैं जिनका कि होना सातवें गुणस्थान से नीचे परमावश्यक होता है । इस तरह किसी भी प्रकार की चाह न रहने रूप शुद्ध निरीह भाव हो जाने से एक अन्तर्मुहूर्त बाद ही वह सर्वथा हेयोपादेय भाव से रहित होता हुआ उन सभी चीजों का साक्षात् एक ज्ञायक बन जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

भूत बीत ही चुका भविष्यत आगे आने वाला है,
वर्तमान तो है ही उसको कौन मेटने वाला है ।
यों विचारने से हो जाता इच्छा का मुँहकाला है,
उसके जो कि सहज में होता निज रस का मतवाला है ॥१४०॥

काल भेद से कर्म का उदय तीन तरह का होता है अतीत काल का, वर्तमान का और आगामी काल का। इनमें से अतीत काल का तो बीत ही चुका, खतम ही हो चुका, उसका तो पकड़ना ही क्या ? वर्तमान जो है सो है उसमें समझदार को रागद्वेष क्यों होना चाहिये क्योंकि पर वस्तु से किसी को हानि लाभ क्या ? अतः ज्ञानी जीव उससे भी उदास रहता है तो फिर आगे आने वाला-तो आवेगा जब ही अपनी टायम पर आवेगा । जब वर्तमान से ही मतलब नहीं तो फिर आने वाले को तो याद ही कैसे करेगा इस प्रकार से जो निजानन्द में मग्न होता है उसके कोई इच्छा होती ही नहीं और जब इच्छा नहीं तो सहज ही अपरिग्रह हो जाता है।

जो वेदा जाने वाला है तथा वेदने वाला भी,
प्रतिपल बदला करते हैं फिर मूल्य कौन कांक्षा का भी।
निराधार ही फिर कैसी क्यों वाञ्छा होवे ज्ञानी के,
जो न कभी परिणति करता हो विरुद्ध अपनी शानी के ॥१४१॥

बात यह कि ज्ञानी का ज्ञायकपन तो सहज भाव है नित्य है सदा बना रहने वाला है और वेद्य वेदक भाव यानी जानने योग्य तथा उसको जानने वाले ये दोनों ही अपने-अपने रूप में परिणमनशील भी हैं अतः क्षणिक हैं। अब यहाँ विचार यह होता है कि वेदक जो जानने वाला भाव है और वेद्य जिसको कि वह जानना चाहता हो इन दोनों में क्षण भेद होता है दोनों भाव एक साथ नहीं अतः वेदक भाव जिस काँक्षमाण आगमी उत्तर क्षण में होने वाले वेद्य भाव को प्राप्त करना चाहता है वह जब पैदा होगा तो यह वेदक भाव नष्ट हो जावेगा फिर किसका कौन अनुभव करे अगर कहा जावे कि उसके आगे आने वाला भाव उस का वेदक होगा तो वहाँ पर भी उस वेद्य भाव का नाश हो लेगा फिर उसको वह कैसे वेदेगा इस तरह अव्यवस्था देख कर ज्ञानी कभी किसी प्रकार की वाच्छा नहीं करता उसके ज्ञान में यह बात बनती ही नहीं स्पष्ट यह कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

अज्ञानी जीव के जब किसी भी चीज की इच्छा होती है उस समय तो वह चीज होती नहीं और जब वह चीज हो पाती है तो उसकी इच्छा नहीं रहती अतः इच्छा करना बेकार समझ कर ज्ञानी जीव अपने आपे को नहीं छोड़ता ।

वे मतलब ही बन्ध बढ़ाकर संसारस्थ बनाते हो,
देह स्थिति के लिये तथा उपभोग योग्य कहलाते हों ।
उन बनावटी रागादिक या दुःखादिक परिणामों का,
निज सम्वेदन वाले के आता ही नहीं कभी मौका ॥१४२॥

यह अज्ञानी जीव जो अपना भाव बिगड़ाता है वे दो तरह के होते हैं । कुछ तो ऐसे होते हैं जो अपने शरीर निर्वाह के लिये सुख दुःख के रूप में आवश्यक समझ कर करने पड़ते हों परन्तु अधिकांश तो ऐसे ही होते हैं जिनको कि यह जीव व्यर्थ का ही तूल देकर पाप पाखण्ड में पड़ता है जैसे महा मच्छ के मुँह में अपने आप जाकर वहाँ से वापिस निकलने वाले प्राणियों को देखकर तन्दुल मच्छ सोचा करता है । ज्ञानी जीव उपर्युक्त दोनों ही तरह के विकार भावों से दूर रहकर अपने आत्मानुभवन मात्र में मग्न रहता है । उसके दिल में उपजने के लिये उन विकारों को अवसर ही नहीं मिल पाता क्योंकि वह तो अपने शरीर से भी अपने विचार में सचमुच पूर्ण भिन्न होकर रहता है।

हर्षा मर्ष रहित होकर जो निजानन्द का हो भर्ता,
दुनियांदारी में होकर भी नहीं कर्म बन्ध कर्ता ।
भले बुरेपन को अपना कर अज्ञानी फँस जाता है,
कीचड़ में न कनक फिर भी ज्यों लोह जङ्ग खा जाता है ॥१४३॥

बहुत काल तक कीचड़ में पड़ा रहे फिर भी जिस प्रकार लोहे पर जङ्ग आ जाया करता है वैसे सुवर्ण पर नहीं आ पाता क्योंकि यही उन दोनों का स्वभाव है वैसे ही कर्मों से घिरा हुआ होकर भी दुनियाँदारी की चीजों को भली बुरी मानते रहने की वजह से अज्ञानी जीव कर्मों से लिपता रहता है किन्तु ज्ञानी वीतरागी जीव कर्म बन्ध नहीं करता क्योंकि वह हर्ष विषाद से रहित होता है। सिर्फ वह अपनी आत्मा के अनुभव में तल्लीन रहा करता है । याद रहे कि यहां पर गाथा में आचार्य श्री ने जो ज्ञानी शब्द दिया है उसका वाच्य कारण समयसार रूप छद्मस्थ वीतराग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

अवस्था वाला बारहवें गुणस्थान वर्ती एवं च गौणरुपेण ग्रारहवें गुण स्थान वर्ती जीव ही है। न तो उससे निम्न गुण स्थान वर्ती ही और न उससे उपर वाला कार्य समयसार रूप परमात्मा अरहन्त भगवान् ही क्योंकि ज्ञान शब्द से श्रुतज्ञान ही अभीष्ट है जोकि अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होते हुये आत्ममय होने के कारण सार्थक होता है। जिससे कि -

नागफणी की जड़ हथिनी कां मूत और सिन्दूर लिया,
शीशे को पावक में धमकर यों भागी ने स्वर्ण किया ।
सम्यग्दर्शन बोधवृत्तमय जहाँ महौषधि पाता है,
ध्यानवह्नि धुनि धौकिनी लिए भव्य मुक्त हो जाता है ॥१४४॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को अपने अनुभव में अभिन्न रूप से स्वीकार करते हुए परम समाधि के द्वारा भव्यात्मा आत्मा से परमात्मा बन जाता है जैसे कि नागफणी, थूवर की जड़, हथिनी का मूत्र और सिन्दूर इन तीनों के साथ-साथ शीशा (नागधातु) को मिलाकर अग्नि में रखकर धौकिनी से धौका जाय तो भाग्य में हो तो सोना बन जाया करता है । हां उस परम समाधि में न पहुँच कर या उससे भ्रष्ट हो कर अपवाद रूप में सत्कर्म को स्वीकार किए हुए रहता है उस सराग सम्यग्दृष्टि में और मिथ्यादृष्टि जीव में भी बड़ा अन्तर है उसको नीचे दृष्टान्त देकर अच्छी तरह से स्पष्ट करते हैं -

सेवक नृप की सेवा करके सेवा का फल पाता है,
जो उदास हो पास रहे वह तो रईस कहलाता है ।
अज्ञानी सत्कर्म करे वह उसका फल पा जाता है,
ज्ञानी का सत्कर्म उसे शुद्धोपयोग पर लाता है ॥१४५॥

राजा महाराजाओं के पास दो तरह के जीव होते हैं एक तो नौकरी पाइन्दा कर्मचारी लोग और दूसरे ओनरेरी लोग । जो लोग नौकरी-पेशा होते हैं वे सब तो राजा का कहा हुआ कार्य करके उसकी सेवा बन्दगी करके अपनी नौकरी पाकर अपना गुजार करते हैं । जो लोग ओनरेरी होते हैं वे भी राज कार्य करते जरूर हैं परन्तु वे सब राजा के नौकर न होकर मरजीदान या रईस होते हैं । नामवरी पाते हैं । वैसे ही सत्कर्म करने वाले भी दो प्रकार के प्राणी होते हैं एक तो अज्ञानी वहिरात्मा जो कि भोगों की आकाँक्षा को लेकर निदान के रूप में शुभ कर्म का अनुष्ठान करते हैं उन्हें अपने उस शुभ कर्म का फल मात्र मिलता है परन्तु अन्त में वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

रावण की भाँति नरकादि कुयोनियों के ही भागी होते हैं। दूसरे ज्ञानी सराग सम्यग्दृष्टि जीव भी शुभ कर्म करने वाले होते हैं जो कि भोगों की आकांक्षा रूप निदानादि रहित होते हुए अशक्यानुष्टान के रूप में उसे किया करते हैं तो उनका वह पुण्यानुवन्धि पुण्य कर्म तीर्थंकरादि पद के रूप में परिणत होकर उनके शुद्ध होने में सहायक बनता है।

सच्चा सम्यग्दृष्टि जीव जो निजानन्द में बहता है,
मरणादिक भय रहित हुआ घोरोपसर्ग भी सहता है।
वह भव तरु के बीज भूत मिथ्यात्व वगैरह चारों का,
निर्मूलन करके हो जाता सदा शुद्धता का कौका ॥१४६॥

जो चत्तारिवि पाये छिन्ददिते कम्म बन्ध मोहकरे।
सोणिस्संको चेदा सम्माइट्ठी मुणेयव्वो ॥२२९॥ समयसार

इसमें आचार्य महाराज कहते हैं कि जो कोई पुरुष कर्म बन्ध को कारण भूत मोह के पैदा करने वाले मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग इन चारों का निर्मूलन कर रहा हो वही जीव पूर्व गाथा में बताये हुए इस लोक परलोक अत्राण अगुप्ति मरण वेदना और आकस्मिक नाम वाले सातों भयों से रहित होता है। वही निश्शङ्किताङ्ग का धारक सच्चा सम्यग्दृष्टि होता है । तो यह बात स्वात्मानुभव रूप शुक्लध्यान में लीन रहने वाले वीतराग सम्यग्दृष्टि में ही बनती है । इसी प्रकार वास्तविक निःकाक्षितपन का धारक भी वही होता है सो बताते हैं -

शुद्ध सच्चिदानन्द दशा को पाकर जो समभाव धरे,
कर्मोदयकृत विषय सुखों को कहो कि क्यों वह याद करे ।
जिस रोगी का जठर हो गया शुद्ध सर्पिके हो अनुकूल,
फिर भी औषधिसाधितघृत की चाह करे तो भारी भूल ॥१४७॥

यहाँ पर गाथा में तह सव्वधम्मेसु ऐसा एक शब्द है उस का अर्थ तात्पर्यवृत्तिकार ने ऐसा किया है कि - तथैव च समस्त वस्तु धर्मेषु स्वभावेषु अथवा विषय सुखकारणभूतेषु नाना प्रकार पुण्य रूप धर्मेषु अथवा इह परलोक कांक्षारूप समस्त पर समय प्रणीत कुधर्मेषुयः काक्षां न करोति अर्थात् - जो कर्मों के फल रूप विषय सुखों की तरह से ही अपनी आत्मा के सिवाय अन्य समस्त वस्तुओं के धर्मों को भी नहीं अपनाता अथवा विषय सुखों के कारणभूत जो नाना तरह के पुण्य कार्य हैं उनको भी नहीं अपनाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा इस लोक परलोक सम्बन्धि इच्छाओं को लिए हुए मीमाँसक वगैरह के शास्त्रों में कहे गए हुए धर्मों को भी नहीं याद करता वह निःकाँक्षित अङ्ग का धारक होता है।

अपने अपने देश काल माफिक सब का परिणमन बने,
नहीं और का और कभी भी हो ऐसा विश्वास ठने ।
ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के लिये कौन विचिकित्साका,
स्थान रहा कि जहां पर उसका हो कुछ भी विचार बांका ॥१४८॥

मतलब यह कि सम्यग्दृष्टि जीव तो सिर्फ एक अपने आपके ज्ञायकपन को लिये हुये रहता है अतः और सभी चीजों में जुगुप्सा होने का सहज ही अभाव उसके आ जाता है । उसी प्रकार अमूढ़ दृष्टिपन का भी, क्योंकि वह-

भला बुरापन मानि विश्व की चीजों में न मूढ होता,
चिदानन्द में सहज रूप से स्वयं लगाता है गोता ।
ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के कहो कि कैसे बन्ध बने,
पूर्व वद्ध कर्मों की वह अविपाक निर्जरा सदाठिने ॥१४९॥

परमसमाधिखड्ग से विधि अरि नाश के लिये जो घिसका,
अपने आप सिद्ध होने को उमग रहा हो मन जिसका ।
अप्रतिहत भटकी समान यों आगे बढ़ता जाता है,
वह उपवृंहण गुण का धारक सम्यग्दृष्टि कहाता है ॥१५०॥

सम्यग्दर्शन का पाँचवा अङ्ग उपवृहंण भी बोला जाता है और उपगूहन भी । उपवृहंण का अर्थ होता है बढ़ाना एवं उपगूहन का छुपाना । सो मूल ग्रन्थकार ने तो श्री समयसार जी में जो सिद्ध भत्ति जुत्तो उपगूहणगो दु सव्वधम्माणं। इस प्रकार दोनों ही अर्थों को ध्यान में रखते हुये वर्णन किया है । इसमें पहिला विशेषण जो सिद्धभत्ति जुत्तो है उसका अर्थ होता है कि जो सहज सिद्ध भक्ति युक्त होता है । गुणों में अनुराग करने का नाम भक्ति है अतः इसका मतलब यह हो जाता है कि जो सिद्ध भगवान् के या यों कहो कि अपनी शुद्ध आत्मा के गुणों को प्राप्त करने में उनको दिन पर दिन तरक्की देने में तत्पर हो वह पाचवें अङ्ग का धारी है जिसको कि उपवृहंण कहते हैं । श्री अमृत चन्द्राचार्य ने आत्मख्याति में इसी का वर्णन किया है। परन्तु दूसरा विशेषण सव्वधम्माणं उवगूहणगो है उसका अर्थ होता है कि जो सर्वसाधारण संसारी जीवों में पाये जाने वाले मिथ्यात्वादि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

भावों को दबाने वाला या नाश करने वाला हो वह उपगूहन अङ्ग का धारक होता है जैसा कि तात्पर्यवृत्ति में लिखा है - शुद्धात्म भावनारूप पारमार्थिक सिद्ध भक्तियुक्तोमिथ्यात्वरागादि विभाव धर्माणा मुपगूहकः प्रच्छाद को विनाशकःस सम्यग्दृष्टिः उपगूहनकारी मन्तव्यो ज्ञातव्य इति । और ऐसा जीव स्थिति करण अङ्ग का धारक भी सहज में हो लेता है क्योंकि-

मिथ्यात्वादिक रूप उवट पथ पर से रहे हटा कर के,
अपने को सच्चिदानन्द चिन्तन में आप सटा कर के ।
होती रहती हो जिसके दिल में अखण्ड समरसवृष्टि,
है स्थितिकरण अङ्गका धारक होता वह सम्यग्दृष्टि ॥१५१॥

यद्यपि समयसार जी की गाथा में, उम्मग्गं गच्छन्तं सगं चमग्गेठवेदि जो चेदा ऐसा लिखा है जिसका सीधा सा अर्थ- जो अपने को उन्मार्ग से बचाकर मार्ग में लगाता है वह जीव ऐसा होता है परन्तु इसमें आचार्य श्री ने जो चेदा अर्थात् चेतयिता शब्द दिया है उससे ऐसा अर्थ निकलता है कि जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप मोक्ष मार्ग में लगाकर उसके साथ अपने आपको एकमेक करते हुये जो इष्टानिष्टादिवाह्यविकल्पों से रहित हो करके पूर्ण समभाव का धारक हो लेता है एवं आत्मानुभव लीन बनता है वही स्थितिकरण अङ्ग का धारी सम्यग्दृष्टि होता है । आगे वात्सल्य को बतलाते हैं -

अपने से अभिन्न कह करके दिखलाता है प्रेम अहो,
सम्यग्दर्शन बोधवृत्त इन तीन साधुवों को फिर हो ।
उसके कहो न क्यों वत्सलता मोक्ष मार्ग में आने की,
जिसके लो है लगी हुई सच्चिदानन्द को भाने की ॥१५२॥

जो मोक्ष मार्ग के साधक हों उन्हीं का नाम साधु होता है और मोक्ष के साधक यानी उसे प्राप्त करने वाले सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन ही हैं अतः वस्तुतः ये ही साधु हैं । इतर जीवों को तो तदाधाराधेयभाव से साधु कहा जाता है। इन तीनों से सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा सौहार्द बतलाता है कि उन्हें अपने आप के साथ अभिन्न एकमेक मानता और जानता है बल्कि तन्मय ही हो लेता है जब कि सच्चिदानन्द आत्मा में लौ लगाये हुए होता है । फिर उसके मोक्ष मार्ग से वात्सल्य क्यों नहीं कहा जावे अपितु सच्चा मोक्ष मार्ग वत्सल तो वही सम्यग्दृष्टि होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****
और वही प्रभावना अङ्ग का भी धारक होता है जैसा कि नीचे बताते हैं-

गुप्तिरूप सन्नाह और समभाव रूप तलवार धरे
ख्यातिलाभपूजादि चाह मय दुर्भावों का नाश करे ।
शुद्धात्मोपलम्भरथ चढ़ कर स्वस्थ भाव सारथियुत हो
ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव के ही प्रभावना अङ्ग कहो ॥१५३॥

यहां पर श्री कुन्दकुन्द महाराज ने - विद्यारहमारूढो मनोरहरये सुहणदि जो चेदा ऐसा लिखा है इसमें विद्या को रथ बताया है जिस पर कि सम्यग्दृष्टि बैठता है सो वह शुद्धानुभव रूप ध्यानमय ज्ञान ही लिया जा सकता है जिसके कि साथ गुप्ति और समभाव आ ही जाते हैं । और वह उसके द्वारा मन में होने वाले वेगों को ख्याति लाभादि रूप खोटे भावों को उस अपने आत्म प्रभाव से मिटाता है जैसा कि तात्पर्य वृत्ति में लिखा है - यश्चेतयिता आत्मा स्वशुद्धात्म तत्वोपलब्धि रूप विद्यारथमारूढः सन् ख्याति पूजालाभ भोगाकांक्षा रूप निदानबन्धादि विभाव परिणाम रूपान्द्रव्यक्षेत्रादि पञ्च प्रकार संसार दुःख कारणान् शत्रून् मनोरथरयान् वेगाँश्चित्तकल्लोलान् स्वस्थ भावसारथिवलेन दृढतर ध्यान खङ्गेन हन्ति ।

ऐसे आठों अङ्ग युत निश्चय सम्यग्दृष्टि ।
उसके केवल निर्जरा किन्तु नहीं विधिसृष्टि ॥१५४॥

निःशङ्कितत्वादि आठों ही अङ्गों के ये उपर्युक्त लक्षण निश्चय अर्थात् वीतराग सम्यग्दृष्टि के ही पाये जाते हैं जिस के कि आगे नवीन कर्मों का बिलकुल भी बन्ध न होकर निर्जरा ही होती है । सराग सम्यग्दृष्टि में होने वाले आठों अङ्गों का स्वरूप तो रत्नकरण्डश्रावकाचार में बतलाया गया है जिसका संक्षेप इस प्रकार है - जिनशासन में बताये हुए तत्वों के स्वरूप पर अटल विश्वास होना १ । यह साँसारिक सुख, कर्मों के उदय से होने वाला और वाह्यविषयों के अधीन तथा दुःखों से मिला हुआ एवं क्षणिक है ऐसा विचार रहना २ । मुनि वगैरह धर्मात्मा जीवों के विडरूप शरीर को देखकर उन से घृणा न करने लगना किन्तु उनके तपश्चरणादि गुणों को लेकर उनकी वैयावृत्य करना ३ । गैर मजहब वालों की बातों में आकर उन्मार्ग का सहयोग या समर्थन न करने लग जाना ४ । कमजोर और कमअक्कल लोगों के द्वारा आप्राप्त होने वाली जैन धर्म की बुराई को दूर हटाने की चेष्टा करना ५ कमजोरी वगैरह के कारण धर्म पर से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डिगते हुए लोगों को यथा शक्ति धर्म पर लगाना ६ । धर्मात्मा लोगों के साथ गौ, बछड़े सरीखा हार्दिक प्रेम रखना ७ । और आप सदा भले से भले काम करते रहना ८ ।

शङ्का – रत्नकरण्ड में बताये हुए ये सब लक्षण तो देव शास्त्र के और गुरु के श्रद्धान रूप व्यवहार सम्यक्त्व के लक्षण हैं; मिथ्यादृष्टियों में भी हो जाया करते हैं । सराग सम्यक्त्व तो वास्तविक चतुर्थ गुण स्थानादिवर्ती सम्यक्त्व का नाम है जिससे कि मनुष्य मोक्ष मार्गी होता है ।

उत्तर – भैया जी सराग सम्यक्त्व कहो एक ही चीज है । तुम्हारा जिस पर विचार है वह तो सिर्फ गृहीत मिथ्यात्व के अभाव रूप व्यवहाराभास सम्यक्त्व होता है जिसका देव शास्त्र गुरु पर श्रद्धान भी आत्मस्वरूपसमुत्थ न होकर ऊपरी होती है और उसके वे सब अङ्ग भी बनावटी होते हैं सम्यक्त्व के अङ्ग सरीखे मालूम पड़ा करते हैं जैसे कि बन्दर के हाथ पैर भी आदमी सरीखे हुआ करते हैं । अपितु व्यवहार सम्यक्त्व तो उसको समझना चाहिये जैसे कि गृहस्थावस्था में भरत चक्रवर्ती के था और जिसकी कि चेष्टा अष्टाङ्गमयी थी। क्योंकि साङ्गोपाङ्ग उस सम्यक्त्व को श्री समन्तभद्राचार्य संसार का नाश करने वाला बता गये हैं। इतिनिर्जराधिकारः समाप्तः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथबन्धाधिकार

तैल लगा व्यायाम करे वह धूलि धूषरित हो जावे
रागादिक युत मूढ क्रिया करके यों पाप कमा पावे ।
तैल हीन नाचे कूदे उसके न धूल लगने पावे
रागादि रहित ज्ञानी की कृतित्यों न बन्ध को अपनावे ॥१५५॥

आयुकर्म के क्षय से मरना होता यों न जान करके
मुझे मार सकता कोई मैं मारूं उसे तान करके ।
यों अज्ञानी व्यर्थ किसी से डरता और डराता है
आयुकर्म को अटल जानि ज्ञानी त्रस्त न हो पाता है ॥१५६॥

मतलब यह कि जब तक यह जीव रागादि युक्त होता हुआ वाह्यपदार्थमय उपयोग वाला होता है तब तक शोचता है कि अमुक मेरा वैरी है वह समय पाकर मुझे मार देगा इसलिए मुझे चाहिए कि मैं पहले ही उसे मार डालने की कोशिश करुं इसी उधेड़-बुन में फंस कर आप ही मर पूरा देता है वैरियों का अन्त नहीं कर पाता करे भी तो कहाँ तक, एक से छुटकारा पाये तो दूसरा दीख पड़ता है अतः शान्ति कहां, कभी नहीं । किन्तु जो वाह्य दृष्टि को छोड़ कर आत्मदृष्टि पर आता है, ज्ञानी होता है वह शोचता है कि कोई किसी का मारने वाला नहीं सब अपने-अपने आयुकर्म के क्षय होने से मरण करते हैं और एक के आयुकर्म को घटाने बढ़ाने की दूसरा कोई ताकत नहीं रखता ऐसा विचार कर निःशङ्क होता हुआ आत्म निमग्न बन जाता है । इस पर प्रसङ्ग पाकर एक सवाल हो सकता है कि आगम में अकाल मृत्यु भी तो बतलाई है ? तो उसका भी जवाब यह कि वह अकाल मृत्यु भी दिल की खुद कचाई वाले मनुष्य की होती है। अपितु उपर्युक्त विचार वाला मनुष्य तो अपने मन की दृढ़ता के द्वारा तीर्थकर प्रकृति का बन्ध करके उसे ही अनपवर्त्य भी बना सकता है अतः उस आगमोक्त बात पर तक उसका ध्यान नहीं जाता या यों कहो कि उस ज्ञानी के दिल में उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता वह तो अपने आत्मबल पर भरोसा किये हुए तन्मय हो रहता है।

कोई मुझे बचा सकता है मैं भी उसे बचाने का,
करुं यत्न क्यों नहीं चित्त यों होता है अनजाने का ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इससे वह परवश हो करके रहे किन्तु जो ज्ञानी हो,
आयुकर्म आधीन देह यह यों समत्वसम्मानी हो ॥१५७॥

इसी तरह वह मेरा मित्र है मेरी रक्षा करने में हर समय तत्पर रहता है अतः उसे बनाये रखने की उसे न बिगड़ने देने की चेष्टा मुझे रखनी चाहिये ऐसे विचार से विवश होकर अज्ञानी जीव दब्बू बना रहता है। परन्तु ज्ञानी जीव तो यह सोच कर कि यह शरीर जो मेरे आयुकर्म के बल पर मुझे प्राप्त हुआ है उसे मेरे आयु कर्म को छोड़ कर दूसरा कोई बिगाड़ नहीं सकता तो बचा भी कौन कैसे सकता है। एवं वह निःसंकोच समताधारण कर आत्म निमग्न हो लेता है।

मैं उसको दे सकता हूं वह मुझको सुखदुख देता है,
यह विचार अज्ञानी का ज्ञानी यों विचार लेता है।
अपने अपने कर्मोदय से सुखी दुखी सब होते हैं,
यतिगण समता को अपना कर उन कर्मों को खोते हैं ॥१५८॥

जो गुवार की फलियों को खा लेता है और उसके पाक समय में वायु होकर पेट पिराने लगता है तो कहता है कि गुवार की फलियाँ मुझे दुःख दे रही हैं ये फलियां बड़ी बुरी हैं । अगर मेरा वश चले तो मैं इन्हें आगे के लिये पैदा ही न होने दूं इस प्रकार उन्हें कोसने लगता है अपितु यह नहीं सोचता कि इन फलियों का क्या दोष है ? दोष तो मेरा है जोकि मैं इन्हें खा गया । बस इसी प्रकार अज्ञानी जीव जिन वाह्य चीजों को लेकर उसकी भली बुरी चेष्टा होती है जिसकी कि वजह से वह परेशान होता है उसे न सोच कर उन चीजों को भली और बुरी सुख दुःख देने वाली मान बैठता है किन्तु ज्ञानी जीव तो सोचता है कि इन वाह्य वस्तुओं का क्या दोष है ये तो न भली ही हैं और न बुरी ही । मैं व्यर्थ ही इन्हें भली बुरी, मान कर वैसी ही अपनी चेष्टा कर रहा था अतः समता भाव को अपनाते हुए वह अपनी उस पूर्वोक्त चेष्टा को भुला देता है।

मरता है दुःखी होता है अपने ही कर्मोदय से,
बच रहता सुख पाता है सो भी न हमारी सन्नय से ।
किन्तु अनुग्रह विग्रह करके हम अपना शुभ अशुभ करें,
कोई सुखी दुखी करता कोई को यह मिथ्यात्व हरें ॥१५९॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** ***********************

याद रहे कि विचार के लिए दो दृष्टियाँ होती हैं एक वाह्य दृष्टि दूसरी अन्तरङ्ग दृष्टि सो यहाँ जो कुछ विचार चल रहा है वह अन्तरङ्ग दृष्टि को लेकर है । और वह ठीक ही है कि एक आदमी को हम दुःखी करना चाहें या मारना चाहें और उसके लिए उपाय कोशिश भी करें फिर भी उसके पाप कर्म न होकर पुण्य कर्म जोर पर हों तो उसका कुछ भी तो बिगाड़ न होकर प्रत्युत उसे लाभ होता है। प्रद्युम्न के दुमात भाइयों ने उसे मारने के लिए कितने उपाय रचे परन्तु उसकी सहज सरलता और पुण्योदय के कारण जहाँ भी वह गया वहाँ से कुछ न कुछ वैभव प्राप्त कर लाया । और जिसके घोर पाप कर्म उदय हो तो उसकी मदद करके भी हम उसे सुखी नहीं कर सकते । अरविन्दघोष के लड़कों ने अरविन्द को नीरोग बनाने के लिए कितने प्रयत्न किये किन्तु सब विफल हुए और अन्त में वह उसी व्याधि से मर कर नरक में गया । बस यही आचार्य महाराज कहते हैं कि – हम किसी को भी दावे के साथ सुखी या दुःखी कर सकते हैं यह हमारा विचार गलत विचार है इसे छोड़ देना चाहिये। हाँ किसी के भी भले में मददगार होकर कर्तव्य पालन करते हुए पुण्यबन्ध और किसी के भी बिगाड़ की सूरत करके पाप बन्ध अवश्य कर लेते हैं इसके बाद तो जैसा भी सामने वाले का शुभ अशुभ होता है उसी के अनुसार उसे वह फलता है।

यह कैसे भी सुखी बने मैं करुं मदद इसकी कैसे,
इस विशुद्ध परिणाम द्वारा होता पुण्य बन्ध ऐसे ।
यह मर जावे इत्यादिक संक्लेश भाव से है होता,
पापबन्ध जिससे खाना पड़ता कुयोनियों में गोता ।।१६०।।

यह जीव दुःखीं क्यों है किसी भी तरह से सुखी हो जाना चाहिये इस प्रकार के मन्द कषाय रूप विशुद्ध परिणामों द्वारा किसी के भले के लिये अपने मन वचन और काय की चेष्टा करने से इस जीव को पुण्य बन्ध होता है जिसके कि फलस्वरूप सद्गति की प्राप्ति होतीहै। और यह अभी तक भी जिन्दा क्यों है इसे मार डालूं इस प्रकार के तीव्र कषाय रूप संक्लेश परिणामों द्वारा जो इस जीव की चेष्टा होती है उससे पाप बन्ध होकर नरकादि कुयोनियों में दुःख भोगना पड़ता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरो जीव या नहीं पाप हो गया मारने वाले को,
इसी तरह से झूठ चौर्य मैथुन धनादि सम्भाले को ।
सत्य बोलने आदिक में लग करके पुण्य कमाता है,
जैसा अध्यबसान जीव करता वैसा फल पाता है ॥१६१॥

मतलब इस कहने का आचार्य महाराज का यह है कि जब तक मुक्ति प्राप्त न हो या यों कहो कि शुद्धोपयोग प्रगट न हो तब तक अशुभ वृत्ति से हट कर शुभ प्रवृत्ति करना चाहिये जैसा श्री पूज्य पादाचार्य ने कहा है कि 'छाया तपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्' ॥ अर्थात् हम रास्ते पर चल रहे हैं और वहां पर हमें बीच में कुछ देर ठहरना है तो घाम में न खड़े रहकर कोई छाया देखा करते हैं उसी प्रकार जब तक संसार में रहना है अव्रत अवस्था को छोड़कर व्रती बन कर रहें ऐसा करने से हमारी आत्मा को आश्वासन मिलता है और आगे का मार्ग कुछ सुलभ बन जाया करता है ताकि हम विचार से काम लें तो स्थान पर पहुंच सकते हैं, घूमते फिरने के दुःख से छूट सकते हैं । जैसाकि कुन्द कुन्द स्वामी ने भी अपने दर्शनप्राभृत में कहा है -

सेयासेयविदण्हू उद्धद दुस्सील, सीलवन्तो वि।
सीलफलेणाभ्भुदयं तत्तो पुणलहइ णिव्वाणं ॥१६॥

अर्थात् मेरा बुरा और भला किसमें है ऐसा जानने वाले आदमी को चाहिये कि खोटी प्रवृत्ति खोटे विचारों को छोड़कर भली प्रवृत्ति शुभ विचारों को अपनावे जिससे कि तरक्की करते हुए अन्त में सच्चा सुख निर्वाण प्राप्त कर ले । अस्तु ।

यद्यपि बन्ध विचारों से ही होता है इस चेतन के,
वाह्य वस्तु को लेकर वह होता इसके भीतर मन के ।
इसीलिए उससे भी हटकर रहने को श्रुत कहता है,
भट की तरह बांझ सुत हनने को भी क्या मन बहता है ॥१६१॥

यद्यपि कर्मबन्ध तो आत्मा के राग द्वेष रूप परिणामों पर ही निर्भर है परन्तु वे रागद्वेष भी वाह्य वस्तु को निमित्त लेकर ही प्रवृत्त होते हैं जैसे कि एक लुटेरे धाडेती को मारने या पकड़ने के लिए सब दौड़ा करते हैं, बाँझ के पूत को मारने के या पकड़ने के लिए कोई भी नहीं चाहता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि वह है ही नहीं बस तो इसीलिये आगम में वाह्य वस्तुओं के त्याग पर जोर दिया गया है अर्थात् जब यह आत्मा वाह्य वस्तुओं को छोड़ देगा वे सब जब इसके उपयोग में रहेंगी ही नहीं तो फिर रागद्वेष भी कहाँ से कैसे होंगे और रागद्वेष न होने से फिर बन्ध भी क्यों होगा ।

दुखी सुखी करता हूँ मैं यह तेरा शोच निरर्थक है,
क्योंकि सरागविरागता बिना कहो कि भव शिव कौन लहे ।
तेरा विचार हो या मत हो जो सराग वह बन्ध वहे,
वीतरागता से हो शिव फिर हे मन तू क्यों भ्रष्ट रहे ॥१६३॥

आचार्य देव उसी बात का उपसंहार कर रहे हैं कि हे भाई उपर्युक्त रूप से जब तेरा किया कुछ भी नहीं होता तो फिर व्यर्थ ही तू संकल्प विकल्प में फंस कर क्यों भ्रष्ट हो रहा है । अपने उपयोग को निर्मल बना कर अपना भला क्यों नहीं करता जो कि तेरे वश की चीज है ।

अपने ही परिणामों से यह पशु नारक नर देव बने,
पुण्य पाप या धर्माधर्मादिक में चेतन आप सेने ।
जो इस अध्यवसान रहित हों वे यतिवर कहलाते हैं,
अशुभ और शुभकर्म से रहित होकर शिव पद पाते हैं ॥१६४॥

इस पर एक प्रश्न उठता है कि जब कोई किसी का कुछ नहीं करता, अपना बिगाड़ सुधार आप ही करता है तो फिर अपकारी का अपकार नहीं माना जावे सो तो ठीक किन्तु उपकारी का उपकार भी मानने की हमको फिर क्या जरूरत है ? इसको विचार में लेकर नीचे लिखा जाता है -

यद्यपि है व्यवहार बिना होता कुछ भी व्यवसाय नहीं,
निश्चय पर आकर फिर भी पाते हैं यतिवर मोक्षमही ।
इसीलिए उसका निषेध निश्चय से है जिसके ये नाम
अध्यवसान विचारबुद्धि मतिचित् व्यापार मनःपरिणाम ॥१६५॥

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि एक वाह्य दृष्टि होती है और दूसरी अन्तरङ्ग दृष्टि । वाह्य दृष्टि का निमित्त पर लक्ष्य होता है और अन्तरङ्ग दृष्टि उस पदार्थ के खुद के परिणमन पर निगाह करती है इन्हीं को व्यवहार और निश्चयनय कहते हैं । अब यह जीव जब अपनी वर्तमान गिरी हुई हालत का अनुभव करता है और उसे हटाने के लिए उत्सुक होता है तो अन्तरङ्ग इसका इसके पास है किन्तु दिग्भ्रातकिंकर्तव्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ****************************

विमूढ़ है अर्थात् मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं इस असमंजस में पड़ा रहने के कारण किसी भी मार्ग प्रदर्शक का सहारा लेता है। और उसके बताये हुये मार्ग को अपनी बुद्धि में उतार कर विश्वास पूर्वक वह उस पर चलता है अतःउसे गुरु मान कर उसका कृतज्ञ होना जरूरी है। अगर ऐसा न हो उस गुरु के प्रति उसका कृतज्ञ भाव जागृत न हो तो उसके बतलाये हुये मार्ग को वह दिल से स्वीकार ही नहीं कर सकता। इसी प्रकार अपने उस मार्ग में कण्टक रूप दुर्निमित्तों की तरफ निगाह करे तो उनके पीछे लगकर अपने आपको अधीर बनाकर अपना बिगाड़ कर जावे अतः उनकी कोई परवाह न करके उन्हें अपने आत्मबल के अनुसार दबाते हुये एवं गुरु महाराज का कृतज्ञ बन करके उनके बताये हुये मार्ग पर चलता है। इसी का नाम व्यवसाय अध्यवसाय विचारशीलता बुद्धिमत्ता मनोबल वगैरह भी हैं । इतना होते हुये भी उस पर चलने में वह स्वतन्त्र है जितना चाहे उतना धीरे या तेजी से अपने आत्मबल के अनुसार चले। अतः जब अपनी उपयोगिता की ओर झुकता है तो उस शुभ निमित्त के भी विकल्प को दबा कर अपने आपके उपर तुला रहता है। इसीलिये निश्चयनय के द्वारा व्यवहार नय को प्रतिषेध्य भी कहा जाता है। अस्तु। इस जीव का वह व्यवसाय कब कहां तक बना रहता है सो बताते हैं-

जब तक इसके दिल में आत्मस्वरूप प्राप्ति नहीं होती,
होते रहते हैं संकल्पविकल्प सदा यों समझौती ।
जिससे अशुभ करो या शुभ करता ही तो यह रहता है,
अशुभ भाव से शुभ पर आकर शुद्धभाव गह सकता है ॥१६६॥

जब तक इस जीव को आत्मोपलब्धि नहीं हो पाती आत्म स्वभाव के साथ में तन्मयता रूप शुद्धपयोग दशा नहीं प्रगट होती जिसका कि नाम आत्मानुभूति है तब तक इस जीव के दिल में संकल्प विकल्प बनते ही रहते हैं एक समय के लिए भी इसके चित्त पर से दूर नहीं होते अतः शुभ प्रवृत्ति करे चाहे अशुभ प्रवृत्ति दोनों में से एक इसे करनी ही पड़ती है ताकि पुण्य या पाप रूप कर्म बन्ध होता ही रहता है जैसा कि - 'जासंकप्पविकप्पं ताकम्मं कुणइ असुहसुहजणयं । अप्पसरूवारिद्धी जावणाहियऐपरिफ्फुरई।' इस समयसार जी की गाथा में बतलाया है । हाँ अशुभ शुभ दशा भी दो तरह की होती है एक योगमयी दूसरी उपयोगमयी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ****************************

सो यहाँ उपयोगमयी दशा को लेना चाहिये कि जब तक यह जीव अशुभ दशा में रहता है तब तक तो यह शरीर है सो ही मैं हूं ऐसे विश्वास को लिए दीर्घ संसारी वहिरात्मा ही होता है। परन्तु जब कि यह शरीर तो जड़ है मैं चेतन हूँ इस शरीर से भिन्न हूँ भले ही इस शरीर को साथ में लिए हुए हूँ इस प्रकार आत्म विश्वास रूप शुभोपयोग होता है तो अशुभोपयोग दूर हो जाता है। इस शुभोपयोग के होने से शुद्धोपयोग पर आने की पात्रता हो जाती है और वह सराग सम्यग्दृष्टि अल्प संसारी बन जाता है। योग रूप शुभ अशुभ दशा तो यथा सम्भव इन दोनों के ही कभी शुभ तो कभी अशुभ और कभी फिर शुभ इस प्रकार क्रम से होती रहती है सराग सम्यग्दृष्टि की तरह वहिरात्मा के भी जैसा कि –

जो तप समिति गुप्ति शीलव्रत जिनवर भाषित हैं सारे,
करता है अभव्य अज्ञानी किन्तु न मोक्ष सुहाना रे।
करता रहता है श्रुत का भी पाठ किन्तु ऊपर से ही,
अपितु न होता आत्मभावमय परम बोध गुण का नेही ॥१६७॥

शङ्का – इसीलिये तो हम कहते हैं कि बिना आत्मज्ञान के कोई कार्य नहीं होता! । व्रत नियमादि रूप त्याग तपस्या तो व्यर्थ ही है एक आत्म ज्ञान होना चाहिये फिर सब काम फतेह होता है।

उत्तर – भैया जी जो तुम्हारा कहना है कि अभव्य द्रव्य लिङ्गी मुनि के महाव्रत होकर भी आत्म ज्ञान बिना उनकी मोक्ष नहीं होती सो ऐसा तो आत्म ज्ञान के साथ भी तो है। चतुर्थ गुणस्थान वाले को आत्मज्ञान तो होता है परन्तु वहाँ व्रत नहीं होते इसलिए उसको मोक्ष नहीं होता जब तक कि व्रत नहीं होते अतः फिर तो आत्मज्ञान भी तो व्यर्थ ही रहा।

शङ्का – चतुर्थ गुण स्थान वाले को व्रत नही होते इसलिये मुक्ति नहीं होती सो बात नहीं किन्तु उसका आत्मज्ञान ही प्रादेशिक होता है शुक्ल ध्यान वाले को होता है वैसा पूरा भेद विज्ञान नहीं होता इसलिये उसकी मुक्ति नहीं, जहाँ भेद विज्ञान पूरा हुआ और मुक्ति अर्थात् परमात्म अवस्था हो ही जाती है।

उत्तर – तो फिर तो यों भी कह सकते हैं कि अभव्य को आत्मज्ञान नहीं होता इसलिए मुक्ति नहीं होती सो बात नहीं अपितु उसके व्रत ही नहीं होंते फिर मुक्ति कैसे हो सकती है। अव्रत सम्यग्दृष्टि के आंशिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ***********************

आत्मज्ञान तो होता ही है किन्तु अभव्य के तो नाम मात्र के लिए भी व्रत नहीं होते हैं क्योंकि श्रीतत्वार्थ सूत्र जी में बतलाया है कि निःशल्योव्रती जो शल्यरहित होता है वही व्रती होता है। तो अभव्य के तो माया मिथ्यात्व और निदान यह तीनों शल्य होती हैं फिर वह व्रती कैसा ताकि यह कहना बन जावे कि व्रत होकर भी मोक्ष नहीं होता। बल्कि जैन शासन का तो यह कहना है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनों के पूर्ण होने पर ही मोक्ष होता है और इनमें चारित्र ही अन्त में पूर्ण होता है उसी का नाम व्रत है उसकी पूर्ति से मुक्ति मिलती है। स्पष्ट यों समझना चाहिये कि व्रतों में अहिंसा व्रत प्रधान है और अहिंसा का लक्षण श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत पुरुषार्थ सिध्युपाय में लिखे – 'अप्रादुर्भावः खलुरागादीनां भवत्यहिंसेति तेषामेवोत्पतिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।' इस आर्या के अनुसार रागादि भावों के अभाव का नाम ही अहिंसा है जोकि अभव्य के बिलकुल ही न होकर भव्य के ही होती है और उस की पूर्ति दशवें गुण स्थान के अन्त में होती है तो वही बन्ध का अभाव होकर उसके अनन्तर परमात्म अवस्था भी हो जाती है। अतः व्रत की पूर्णता ही नियंम पूर्वक मोक्ष साधक है। श्री कुन्द कुन्द स्वामी ने 'वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं। कुव्वन्तो विअभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीदु' ॥२७३॥ यह जो लिखा है इसका तो यही मतलब है कि अज्ञानी मिथ्या दृष्टि आदमी जिन व्रत समिति गुप्ति एवं शील और तप को जिन भगवान् के कहे हुए मानकर अपनी समझ में उन्हें ठीक करता है फिर भी वह उसका करना ठीक तौर पर नहीं होता अतः वह चारित्र ही नहीं रहता है ताकि उससे उसकी मुक्ति नहीं हो पाती जैसाकि आत्मख्याति में– 'शील तपः परिपूर्णं त्रिगुप्ति पञ्च समिति परिकलितमहिंसादिपंचमहाव्रतरूपं व्यवहार चारित्रं, अभव्योऽपिकुर्यात् तथापि सनिश्चारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव।' और उसका अज्ञानी मिथ्यादृष्टिपना भी यही कि वह जो कुछ व्रत नियमादि का पालन करता है वह भी सब भोग प्राप्ति के लिए ही करता है मोक्ष के लिए नहीं क्योंकि मोक्ष के बारे में तो वह जानता ही नहीं जैसा कि –

करता है वह धर्म उसे भोगों के लिए ठानता है,
नरकों में है दुःख स्वर्ग में सुख यों सदा मानता है।
कर्म चेतनामय विचार उसके मानस का होता है,
ज्ञान चेतना का न लेश यों भव में खाता गोता है ॥ १६८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसमें बतलाया गया है। यह समयसार जी की गाथा नं. २७५ का उलथा किया हुआ है वहां 'धम्मं भोगणिमितंण दुसो कम्मक्खयाणिमितं करेदि' ऐसा स्पष्ट लिखा है अर्थात् अभव्य जीव के कर्माभाव रूप ज्ञान चेतनामय विचार न होकर कर्मचेतनामय विचार होते हैं वह समझता है कि मैं भला करता हूं ताकि मैं भला ही होऊंगा इस तरह से वह मोक्ष के लिए तपश्चरण न करके जबकि भोगों के लिये ही करता है तो उसे भोग प्राप्त हो जाते हैं। जो आदमी भोगों की कोई कीमत न समझ कर मोक्ष के लिए तप करता है वह उससे मोक्ष पा जाता है फिर तप करना व्यर्थ कहाँ रहा बल्कि सर्वोपयोगी ठहरा जो जैसा चाहता है वैसा उससे बन जाता है।

जीवाजीवादि की पुष्टि आचारादिक का बोध नहीं,
षटकायिक जीवों की रक्षामय सुवृत्त कुछ कसर नहीं।
नवम ग्रैवेयक तक जावे फिर भी शिव से दूर रहा,
दर्शन बोधवृत्त चेतन का है स्वभाव यों ज्ञान कहां ॥१६१॥

यद्यपि अभव्य एवं मिथ्यादृष्टि जीव को भी ग्यारह अङ्ग और नव पूर्व तक का ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से हो जाता है और उसमें इतर सब बातों की भाँति यह भी आ जाता है कि आत्मा का स्वभाव दर्शन ज्ञान चारित्र मय है। राग कर्मों के निमित्त से होने वाला क्षणिक पर्याय रूप है। और उसकी तरफ उसका उपयोग जाता भी है फिर भी उसकी अभिरूचि, उधर नहीं होती जैसे कि सांप किसी सीधी ऊंची दीवाल पर चढ़ने लगता है किन्तु झट वापिस गिर जाता है उसे पकड़ नहीं पाता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि का विचार शुद्ध आत्म स्वभाव पर न जम पाकर शुभ कर्म की और ही ढलता है। उसके जो वैराग्य होता है वह भी त्रैकालिक शास्वतपन को लक्ष्य में लेकर नहीं किन्तु वर्तमान मात्र के लिए होता है जैसे कि कभी औरत और मर्द भी परस्पर चिड़कर विमुख हो जाया करते हैं मरद औरत से बोलता और उसकी तरफ देखता तक नहीं फिर भी अन्तरङ्ग से उसे छोड़ नहीं देता है। वैसे ही अभव्य या मिथ्यादृष्टि जीव भले ही अपने उस पर्याय के विषयों को छोड़ देता हो किन्तु अच्छा खाने पीने वगैरह से मुझे सुख होता है यह भाव उसके हृदय पर से दूर नहीं हो पाता। यह शरीर जड़ और बिनाशीक है मेरी आत्मा इससे भिन्न है ऐसा भी कहता है फिर भी अशरीरता के महत्व को दिल में नहीं धारता जैसे एक नशेबाज आदमी नशे की चीज की दुर्लभता वगैरहं से ऊब कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ************************

कहा करता है कि नशा भी यह खराब ही है किन्तु उससे दूर नहीं होता। वर्तमान शरीर को परीषहादि में नष्ट करता है वह आगे सुन्दर शरीर के पाने के प्रलोभन से करता है इत्यादि रूप में उसकी आत्मा की जो अनात्मवृत्ति होती है उसे वस्तुतः सर्वज्ञ भगवान ही जानते हैं अस्मदादि का ज्ञान तो उसका एक अनुकरणोच्चारण सा कर सकता है जिसकी कि वजह से अज्ञानी जीव संसार में ही फँसा रहता है किन्तु ज्ञानी सम्यग्दृष्टि का विचार उससे पृथक् होता है।

स्फटिक शुद्ध होता स्वभाव से रागादिक अपनाता है,
रक्तादिक द्रव्यों से वह सम्पर्क जहां कुछ पाता है ।
वही हाल है चिदानन्द का अनुभव गोचर ज्ञानी के,
इसीलिए वह भुलि और को निज निमग्न होता नीके ॥१७०॥

जैसे स्फटिक पत्थर अपने सहज भाव में तो सफेद स्वच्छ होता है किन्तु लाल कालादि इतर जैसे द्रव्य का संयोग पाता है तो वैसा ही वह भी परिणम जाता है । वैसे ही यह आत्मा भी परपदार्थों के संयोग से ही रागद्वेषादिमान् होता है इस बात को ज्ञानी जीव अच्छी तरह से जानता है जैसाकि -

जह फलिहमणी सुद्दोण सयंपरिणमइरायमादीहिं,
रंगज्जिदि अण्णेहिदु सो रागादींहि दोसेहिं ॥२७८॥
एवंणाणी सुद्धोणसयं परिणमइरायमादीहिं,
राइज्जदि अण्णेहिदु सोरागादीहि दोसेहिं ॥२७९॥

इन समयसार जी की गाथाओं में लिखा हुआ है । इस पर उन लोगों को विचारना चाहिए जो लोग परद्रव्य के संयोग से या निमित्त से पर द्रव्य में कुछ भी होना जाना नहीं मान कर उपादान से ही कार्य होता है ऐसा एकान्त लिये हुये हैं ।

शङ्का - अगर पर संयोग ही जीव में रागादि पैदा करता है तो सिद्धों में क्यों नहीं रागादिक होते क्योंकि पर द्रव्य पुद्गल का संयोग तो वहां पर भी है ।

उत्तर - भैया जी तुम्हारा कहना ठीक है परन्तु पुद्गल का जैसा संयोग विशेष संसारी जीव के होता है वैसा सिद्धों के नहीं होता । तैल के संयोग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से भीग कर कपड़ा तेलिया हो जाता है वैसा पत्थर नहीं होता फिर भी कपड़ा जो तेलिया हुआ सो तेल से ही हुआ कहना होगा। वैसे ही यह संसारी वाह्य पदार्थ के संयोग से रागादि युक्त होता है।

शङ्का - अगर वाह्य संयोग या निमित्त से ही जीव के भाव होते हैं तो एक चीज को लेकर भिन्न-भिन्न जीवों के भिन्न-भिन्न परिणाम क्यों हो जाते हैं। जैसे कि हमारे यहाँ एक बात प्रसिद्ध है कि एक नौजवान वेश्या के शव को मुनि, कामी तथा कुत्ते ने देखा तो मुनि का तो विचार हुआ किदेखो इसने इस अपने दुर्लभ नर पर्याय को बिना तपस्या के व्यर्थ ही खो दिया। कामी ने विचार किया कि अहो यह मेरे से एक बार भी बात कर लेती तो मैं अपने को धन्य समझता परन्तु यह तो अब मर चुकी। कुत्ते का विचार हुआ कि इसे अगर ये स्मशानी लोग बिना जलायें यों ही छोड़ जावें तो अपनी पेट भर लूं।

उत्तर - यहाँ तीनों के विचार एक कारण से नहीं किन्तु भिन्न-भिन्न कारण से ही भिन्न भिन्न हुए हैं। मुनि के विचार उसके विषय लम्पटत्व को लेकर, कामी के विचार उसके रूप सौन्दर्य को लेकर और कुत्ते के विचार उसके माँस की सरसता को लेकर पैदा हुए हैं। किञ्च भाई साहेब तुम भी तो कह रहे हो कि उस शव को लेकर उन तीनों के वैसे २ भाव हुए सो ही आचार्य महाराज कहते हैं कि वाह्य पदार्थों के निमित्त से ही संसारी जीव के रागादि भाव होते हैं। इसी लिए जो समझदार होता है वह बाहिरी सभी पदार्थों का परित्याग करके अपने उपयोग को और तरफ से हटाकर आत्मनिमग्न बना लेता है और यों वीतराग हो जाता है।

रागरोष या मोह रूप हूँ मैं या ये सब हैं मेरे,
यह अज्ञान जहां तक इसको नूतन विधि आकर घेरे।
इनकी तरफ न कुछ भी जाकर निजानन्द का धारी हो,
वह ही ज्ञानी जीव कहो फिर वह कैसे संसारी हो ॥१७१॥

पूर्वोक्त प्रकार और सब तरफ से हट कर जो सिर्फ अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव में लीन हो रहता है उसी का नाम ज्ञानी है जोकि आत्मलीन होने के कारण न तो खुद आप चलाकर किसी को अपना पराया मानकर उनसे रागद्वेष मोह करता है और न उसे रागद्वेष मोहरूप से परिणमाने वाले कोई वाह्य कारण ही शेष रह जाते हैं ताकि कोई किसी भी प्रकार का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ *************************

कषाय भाव सम्भव हो सके -णय राय दोस मोहं कुव्वदिणाणी कसाय भावंवेति। गाथा नं. २८० । और जबकि ज्ञानी के किसी भी प्रकार का कषाय भाव नहीं होता तो फिर उसके नूतन बन्ध भी क्यों होगा क्योंकि मैं रागद्वेष और मोहमय हूँ या रागद्वेष मोह ये मेरे भाव हैं इस प्रकार का अज्ञानभाव जहाँ तक बना रहता है तभी तक तो कर्मबन्ध होता है जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है और जब ज्ञानी के वह कभी होता ही नहीं तो फिर कर्मबन्ध कैसा और कर्मबन्ध नहीं तो संसार का अभाव अपने आप हो जाता है । इस सब कथन का सारांश यह कि राग द्वेष मोह को जीतने के लिए अपने आपके मन को मजबूत करने की जरूरत है वैसे ही वाह्य पदार्थों से दूर होने की भी/सो ही नीचे भी कहते हैं -

द्रव्य भाव यों दो स्वरूप पचखाण और पडिकोणा भी,
कहा हुआ है जबकि शास्त्र में तब फिर कौन ज्ञान नाभि ।
अप्रतिक्रमण किञ्चाप्रत्याख्यान रूप ही बना रहे,
मगरूरी से रागादिक जड़कृत हैं यों एकान्त गहे ॥१७२॥

अर्थात् इन गाथा नं. २८३ से २८५ तक में आचार्य महाराज उन लोगों को शिक्षा देते हैं जोकि-इन वाह्य पदार्थों से आत्मा का कोई बिगाड़ सुधार नहीं है, इन परपदार्थों से अमूर्तिक आत्मा का कोई सम्बन्ध ही नहीं है, आत्म सुधार के लिए तो हमें अपने रागद्वेष को दूर करके अन्तरङ्ग परिणामों को निर्मल बनाना चाहिये ऐसा कह कर त्याग तपस्या से विमुख हो रहते हैं। अथवा जो लोग हमारी आत्मा तो शुद्ध है ये रागद्वेष तो कर्मोदय की वरजारी से होते हैं सो होवो ऐसा मान करके लापरवाह बने हुए हैं । वे दोनों ही तरह के मनुष्य भूल खा रहे हैं, भगवान के मत के सच्चे अनुयायी नहीं है क्योंकि वाह्य पदार्थों के साथ जीव के विकार भावों का परस्पर निमित्त नैमित्तिकपणा है । रागादि भाव जो आत्मा में होते हैं सो वाह्य पदार्थों का निमित्त लेकर ही होते हैं इस लिए तो उन्हें त्यागने की जरूरत है और वाह्य पदार्थों के होते हुये भी उनके द्वारा रागादिक विकार सब जीवों के एक सरीखे नहीं होते किन्तु जो जितनी तल्लीनता रखता है उसके उसने ही रूप में विकार आता है अतः रागादि को त्यागने का यत्न भी करना मुमुक्षु को जरूरी है। इसी को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं -

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** ************************

जड़मय कहकर आधःकर्मिक औद्देशिक को भी न तजे,
तन्नैमित्तिक विकृत भाव को भी वह जीव जरूर भजे ।
उसको छोड़े बिना न वह छूटे यों उसे छोड़ता है,
यों विकार से हट कर निजसे निजको विज्ञ जोड़ता है ।।१७३।।

स्वयं बनाने का नाम अधः कर्म किन्तु दूसरे से कह कर बनवाना या बनवाने का मन करना सो उद्देश या उपदेश कहलाता है और इस प्रकार से निष्पन्न अहारादि को आधः कर्मिक एवं औद्देशिक कहना चाहिये । अब उक्त प्रकार के आहार को जो मुनि ग्रहण करता है वह तज्जन्य विकार भाव से बचा हुआ नहीं माना जा सकता उससे बचने के लिए उसे छोड़ना जरूरी हो जाता है। परन्तु उसे छोड़ने के लिये भी मन को मजबूत बनाना आवश्यक है अन्यथा तो वह उससे अधिक देर तक हट कर नहीं रह सकता है–

चलता फिरता नर कैसे होवे विश्रामी,
स्त्री को चुम्बन करे कहो कैसा निष्कामी ।
बिना त्याग के नहीं जरा संयम का हामी,
हो सकता यह जीव कह गए हैं यों स्वामी ।।१७४।।

इस प्रकार ज्ञानभूषण (पं. भूरामल) रचित विवेकोदय का बन्धाधिकार पूर्ण हुआ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ***********************

अथ मोक्षाधिकार

मैंने चोरी की तो बेडीं पड़ी जानता कैदी है,
इतने दिन के लिए हुई यह यों भी उसका भेदी है ।
लेकिन छूटेगा जबही वह बेड़ी कट गिर जावेगी,
और करेगा चोरी तो यों वही दुबारा आवेगी ॥१७५॥

वैसे ही हूं पड़ा भूल मेरी से विधि के फन्दे में,
यों विचार कर आगे को नहि पड़े भूल के धन्धे में ।
दूर हटावे पूर्व बन्ध को परमोत्तम समाधि बल से,
तो जरूर यह चेतन चातुर सहजभावमय शिव विलसे ॥१७६॥

अब यहां मोक्ष का प्रसङ्ग है । बन्धन से छूट जाना परतन्त्रता से रहित होते हुए आत्मा का सहज भाव पर आ जाना सो ही मोक्ष है । जैसे जो चोरी करता है दूसरों के माल को हड़पना चाहता है तो वह कैद में पड़ता है बेड़ियों से जकड़ा जाता है वैसे ही इस जीवात्मा ने भी इन वाह्य पदार्थों को अपनाया इसीलिए कर्मों से जकड़ा गया हुआ है बन्धन में पड़ा है । वह कर्मों का बन्धन इस आत्मा के-प्रकृति १, स्थिति २, अनुभाग ३ और प्रदेश भेद से चार तरह का माना गया हुआ है । प्रकृति स्वभाव को कहते हैं सो कर्मों का आठ तरह का स्वभाव होता है- ज्ञान को न होने देना १ देखने न देना २, सुखी दुःखी करना ३, भुलावे में डालना ४, आदमी वगैरह के शरीर में रोक रखना ५, लूला लंगड़ा वगैरह बनाना ६, कभी माननीय और कभी अनादरणीय कर देना ७, और हर काम में अड़चन डालना ८ ।

स्थिति नाम काल मर्यादा का है कि वह कर्म इतने दिन तक रहेगा। अनुभाग नाम हलका या भारी अपना फल दिखाने का है । और प्रदेश बन्ध कर्म परमाणुओं की गणना को कहते हैं । इन सब बन्धों का पूर्ण वर्णन गोमटसार वगैरह ग्रन्थों से जानना । किन्तु यह जीव अपनी भूल से ही बन्धन में पड़ा है सो आगे के लिए भूल न करे और पहले की हुई भूल के फल को शान्ति से सह ले तो निर्बन्ध बन सकता है ।

मतलब मैं हूं बँधा न इतना मा (जा) नलिये से छूट सके,
ज्यों हो बेड़ी पड़ी अन्यथा यत्न किये से टूट सके ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ***********************

बस तो अपना और बन्ध का हाल जानकर बन्धन से,
विरक्त होता हुआ उसे मेटे तो उसका दुःख नशे ॥१७७॥

कुछ भोले भाई कहा करते हैं कि यह आत्मा अपने आपको और कर्म नोकर्मादिक पर पदार्थों को भिन्न २ जान ले इस जान लेने मात्र से ही मोक्ष हो जाता है। सो आचार्य महाराज कहते हैं कि ऐसा नहीं है कोई अपने को बन्धा हुआ जान लेने से ही छूट नहीं जाया करता। अपितु जिस कारण से बन्धा है उसको जान कर उसे सुधारे उससे उलटा करे एवं अपने वर्तमान बन्धन को काटने का प्रयत्न करे तभी जाकर स्वतन्त्र बन सकता है। वह प्रयत्न क्या है सो नीचे बतलाते हैं -

शुद्धचिदात्मक जीव बन्धरागादि रूप इस लक्षण से,
सुबुद्धि छेनी द्वारा इन दोनों का एक भाव विनशे।
आप आप में लगे आपसे और वबाल दूर होवे,
यह ही है कर्तव्य जीव का इसके बिना न सुख जोवे ॥१७८॥

मतलब इस जीव ने शरीर के साथ एकता को स्वीकार करके उस शरीर से जिन स्त्री पुत्र धन मकानादि को अङ्गीकार कर लिया है उन सबको छोड़ देना तो कथंचित् सुलभ है कोई महत्व की बात नहीं है बहुत बार छोड़ चुका है, इनसे दूर हो जाने मात्र से ही इस जीव का छुटकारा नहीं हो पाता उदाहरण के लिए मान लो एक आदमी ने अपने शरीर में सुगन्धित तैल की मालिस कर ली ताकि उसके शरीर में सुगन्ध हो जाने से उसके आस पास भौंरे आकर मंडराने लगे तो वह वहाँ से हटकर और जगह चला गया जिससे कि उसके भौरे न लग पावें परन्तु वहाँ पर भी उसके उसी भाँति भौंरे आकर चिपटने लगे क्योंकि भौरों के आने का कारण तो सुगन्धि है जोकि उसके शरीर से एकमेक हो रही है उसे अगर वह अब हटाना भी चाहे तो कैसे हटावे बड़ा गड़बड़ में पड़ रहा है हां अगर वह जान ले कि ये भौंरे जिससे आते हैं वह तो सुगन्धि मेरे शरीर में है और उसके उपर मिट्टी चुपड़ ले तो सुगन्धि मिटकर काम ठीक होवे। वैसे ही इस जीव ने अपने उपयोग में रागादि को अपना रक्खा है जब तक उन्हें न हटावे तो यह बाहरी चीजें हटाई हुई भी नहीं हट पाती। और उन रागादि को हटाने को बुद्धिमत्ता की जरूरत है क्योंकि वे सब इसकी बुद्धि में ही हो रहे हैं। अगर यह अपनी बुद्धि में यह बात धारण करे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

कि मेरा स्वभाव तो ज्ञायक मात्र है इसमें यह रागादि का होना यही तो बन्ध है इस प्रकार बुद्धि की तीक्ष्णता से दोनों को भिन्न-भिन्न करे तो उन रागादि को दबाकर अपने आपको प्राप्त कर सकता है इसी को नीचे फिर स्पष्ट कर कहते हैं -

हूँ ज्ञाता द्रष्टा चेतयिता और न भाव कभी मेरे,
यों प्रज्ञासे ही अपने में ग्रहण आपका हो तेरे ।
जिस प्रज्ञासे आत्मन् तू अपने को आप जान पाया,
जिसमें नहीं राग रोषादिक वर्णादिक की भी छाया ॥१७९॥

आत्मानुभव के सम्मुख होने वाला जीव विचार करता है कि हे आत्मन् तू जिस भाँति कि -मैं ज्ञाता द्रष्टा हूँ, चिन्मात्र हूं और कोई से भी भाव राग द्वेषादिक मेरे में नहीं है वर्ण रस गन्धादि का तो लेन देन ही क्या है इस प्रकार के अपने आपके विचार द्वारा ही तो अपने को जान पाया है और इसी अपने विचार द्वारा अपने आपको प्राप्त होकर उसमें तल्लीन भी बन सकता है दूसरे की इसके लिए कोई जरूरत नहीं है । एवं वह अपनी बुद्धि को निर्मल तीक्ष्ण और स्थिर बनाता है ।

निज को निज परको पर ऐसे पहले तो पहचान लिया,
परम समरसी भाव द्वारा चिदानन्द में चित्त दिया ।
कैसा हो अवकाश वहां पर मिथ्यात्वादि विभावों का,
भव बारिधि से तरने को जिसकी ताजा सुबुद्धि नौका ॥१८०॥

इस तरह जिस महापुरुष ने चतुर्थादि गुणस्थान में आत्मा को आत्मा और पर को पर समझ कर पहले तो अपने विश्वास को ठीक बना लिया और फिर उसी अपने विचारानुसार वाह्य वस्तुओं से अपने आपको हटाते हुये समभाव को अपना कर अपने सुप्रसिद्ध शुद्ध सच्चिदानन्द में लीन हो लिया इस प्रकार संसार समुद्र से पार होने के लिए जिस महानुभाव को सुदृढ़ बुद्धिरूप नौका प्राप्त हो चुकी हो तो फिर उसके लिए मिथ्यात्वादि विकार भाव रूप मगरमच्छों का डर ही क्या है उसको तो वे सब छूने ही नहीं पा सकते तो फिर उसको उनसे बचने के लिए प्रयत्नान्तर की आवश्यकता ही क्या है प्रत्युत उसके लिए तो और किसी प्रकार की झंझट में पड़ना अपने आपका बिगाड़ करना है । क्योंकि -

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

चोर होय सो डरे कि कोई मुझ को पकड़ नहीं लेवे,
साहुकार बेधड़क हाट पर बैठा निज धन्धा खेवे ।
मुनि भी जब तक रागयुक्त तब तक पडिकोणा किया करे,
क्योंकि चित्त में कर्मबन्ध होने की शङ्का स्थान धरे ॥१८१॥

जो साहुकार सच्चा कारबारी आदमी होता है वह बेधड़क निडर होकर अपनी दुकान पर बैठा रहता है अपने काम से काम रखता है । परन्तु जो चोर है जिसमें कुछ पानी मरता है वह भी उसी तरह हो रहे तो पकड़ा जाये और दुःख पावे उसे तो चाहिये कि अपना कुछ इन्तजाम करे अर्थात् कुछ न कुछ सफाई पेश करे उसी प्रकार मुनि साधु होकर भी जिन की आत्मा में कुछ भी रागाँश हो तब तक उन्हें प्रतिक्रमण वगैरह के द्वारा अपने उस राग भाव का संशोधन करते ही रहना चाहिये ।

किन्तु उपेक्षा संयम धारी श्री समाधि संलग्न हुवा ।
निजानन्द का पान करे जिसका संकल्प विकल्प मुवा ॥
प्रतिक्रमण निस्सार वहाँ ज्यों नहीं जरूरत जूलाब की ।
वद्धकोष्ट परिहीण जीव को जिसने जठरानल समकी ॥१८२॥

एक आदमी को कब्ज की शिकायत रहती हो तो उसे जुलाब लेना ही पड़ेगा परन्तु जबकि जठराग्नि अपना ठीक-ठीक काम कर रही है और मलोत्सर्ग ठीक साफ-साफ हो रहा है या होने लग गया है फिर भी अगर वह जुलाब लेता ही रहे तो प्रत्युत उसको फायदे की जगह नुकसान ही होता है वैसे ही जबकि जो आदमी अपहृत संयम को उलाँघकर के उपेक्षा संयम पर पँहुच चुका सभी तरह के संकल्प विकल्पों से रहित होकर शुद्धोपयोग रूप शुक्ल ध्यान में लीन होते हुये निजानन्द के रस का रसैया बना हुआ है उसे फिर प्रतिक्रमण करने की क्या जरूरत रह गई ? कुछ नहीं क्यों कि -

प्रतिक्रमण जो समाधि से नीचे हितकारी ।
फिर मुमुक्षु के लिये कष्ट कर उसकी बारी ॥
ज्यों सन्तान निमित्त युवति से युव का मेला ।
किन्तु गर्भ रह गया वहां वह व्यर्थ झमेला ॥
रहे यही फिर चाहिये सम्भाले वह आपको ।
प्रसव यथोचित हो तभी वरना पावे शाप कों ॥१८३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मतलब–सन्तान प्राप्ति के लिए जिस प्रकार औरत को पुरुष संयोग की जरूरत पड़ती है किन्तु पुरुष का प्रेम प्राप्त कर लेने से जब गर्भ धारण हो जावे तो वही पुरुष संयोग प्रत्युत उसके लिए गर्भस्त्राव या गर्भपात सरीखी खराबियाँ पैदा करने वाला माना गया है। वहां पर तो पूर्ण ब्रह्मचर्य पूर्वक अपने आपको सम्भाले हुये रहना चाहिये तभी सन्तान पूर्णाङ्ग नीरोग और सदाचार वाली होती है वैसे ही मुमुक्षु आत्मा को भी मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण वगैरह प्रक्रम करने पड़ते हैं ताकि वह उनके द्वारा परम समाधि को प्राप्त कर सके परन्तु समाधि पर पहुँच उसमें संलग्न हो जाने के बाद तो फिर उन प्रतिक्रमणादि का करना तो दूर रहा अपितु उनकी याद भी तो समाधि से भ्रष्ट करने वाली होती है ताकि मुक्ति से विमुख होकर यह आत्मा संसार की ओर आ जाता है ।

इस प्रकार ज्ञान भूषण (पं. भूरामल) जी महाराज द्वारा रचित विवेकोदय में यह मोक्षाधिकार समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ सर्वविशुद्धि अधिकार

अपने अपने गुण भावों को सभी वस्तु है लिये हुए ।
जैसे कटकादि के रूप में कञ्चन परिणति किये हुए ॥
जीव न अपनी चेतनता को कभी छोड़ कर रह सकता ।
वैसे ही इस पुद्गल में होती है रूपरसादिकता ॥१८४॥

नहीं और से उपजा या उपजा सकता है औरों को ।
कार्य न कारण भी यह आत्मा यों दिखता समजोरों ॥
फिर कैसा यह कर्ता किसका कर्म कहो इसका कोई ।
तो क्यों सृष्टि दीखती है यह क्या बबाल आया कोई ॥१८५॥

एकत्वाध्यवसाय दशा ही इस सवाल की गीता है ।
जीव प्रकृति में कर्म भाव लाने को मरता जीता है ॥
वह उसके रागादि के लिये ज्ञाना वृत्यादिक होती ।
यों सम्बन्ध सदा दोनों का यह संसृति की समझौती ॥१८६॥

उपर जैसा बतलाया गया है कि आत्मत्व की अपेक्षा से यह आत्मा नित्य है न तो यह किसी का उपजाया हुआ है और न यह ही किसी को उपजा सकता है । तो फिर यह सृष्टि होती हुई दीख रही है सो क्या यह गधे के सींग की भांति बिलकुल झूटी है या और कोई बात है ? इस प्रश्न का उत्तर यह कि जो एक आदमी जिस किसी स्त्री को अपनी किये हुए होता है वह उसके लिये अनेक प्रकार के चाटुकार करता है एवं उन चाटुकारों (अनुनय विनय की खुशामद की बातों) में आकर वह स्त्री भी उस आदमी के अनुकूल वर्ताव करने लगती है। बस इसी प्रकार संसारी आत्मा जो कि प्रकृति को अपने साथ एक मेक माने हुए है वह उस प्रकृति में (कर्म पुद्गल वर्गणा में) कर्म पणा लाने के लिये अपने आपको और का और बताता हुआ सतत चेष्टा किया करता है अनेक प्रकार के विकृत परिणामों के रूप में परिणत होता है । इधर वह प्रकृति भी उसके रागादिक परिणामों को निमित्त पाकर उस जीवात्मा का कार्य कर्म कहलाती हुई ज्ञानावरणादि के रूप में परिणत होती रहती है। यह इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध बना हुआ है इसी से संसार प्रवृत्त हो रहा है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** **************************

जब तक जीव प्रकृतिगत रागादिक को नहीं छोड़ता है ।
अज्ञानी मिथ्यादृष्टिक हो करके उबट दोड़ता है ॥
हां इस दुरभिनिवेश भांव से जबकि दूर हट जाता है ।
ज्ञायकदर्शक संयत बनकर तब विमुक्त हो पाता है ॥१८७॥

सुख दुःखादि रूप उदयागत कर्म सन्निहित हो करके ।
हर्ष विषाद रूप से विधिफल अज्ञ भोगता जी भरके ॥
वीतराग परमानन्द दशा स्वादी जो ज्ञानी होता ।
उसे जानता है फिर भी समता में लेता है गोता ॥१८८॥

भले बुरे कर्मों के फल को अज्ञानी ही गहता है ।
किन्तु नयन की भांति विरागी दर्शक होकर रहता है ॥
दूध और गुड़ पीकर के भी सर्प न निर्विष होता है ।
त्यों अभव्य आगम पढ़कर भी अबोध को ही ढोता है ॥१८९॥

भावार्थ - वीतरागी पुरुष अपने पूर्व कर्मों के फल को, अग्नि को आँख की भांति दर्शक रूप में स्वीकार करता है किन्तु मोही जीव अज्ञानी होता हुआ अग्नि को लोहे के गोले की तरह तन्मय होकर भोगता है क्यों कि उसके हर समय मोहजन्य औदयिक भाव ही होता है । किन्तु ज्ञानी के औपशमिकादि रूप आत्म भाव होता है जो कि भव्यत्व भाव के परिपाक का फल है । अभव्य जीव तो आगम का अच्छी तरह से अभ्यास करके भी उसे प्राप्त नहीं होता जैसे कि मिश्री मिला दूध पीकर भी सर्प विष रहित नहीं होता । उसी प्रकार अभव्य का द्रव्यत्व ही कुछ ऐसा होता है कि वह हजार उपाय करने पर भी आत्मबोध नहीं पाता, आत्मा और शरीर को एक अनुभव करता है । किन्तु -

मूलत एव शरीर विधाता चेतन को माना जावे ।
तो फिर ईश्वर सृष्टि कर्तृता की सी बात यहाँ आवे ॥
क्यों वह दूर हटे कैसे फिर मुक्त दशा होने पावे ।
क्यों हो विविध रूपता जो कुछ स्पष्ट दीखने में आवे ॥१९०॥

शरीर तो पुद्गल परमाणुओं से बना हुआ है चेतन आत्मा तो इससे भिन्न द्रव्य है । यदि आत्मा और शरीर को एक द्रव्य मान कर शरीर को आत्मा का कार्य मान लिया जाय तो यह वही ईश्वर सृष्टि कर्ता की सी बात हो जाती है क्योंकि ईश्वर वादी लोग जिस प्रकार सृष्टि का कर्ता सर्वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ **********************

सर्वा ईश्वर को कहते हैं वैसे ही यहाँ पर शरीर का कर्ता आत्मा को कह दिया गया है सिर्फ नाम भेद रहा तत्व भेद तो कुछ रहा नहीं। फिर तो ईश्वर सृष्टि कर्तृता में जो दूषण दिये जाते हैं वे ही सब यहां भी कहे जा सकते हैं। सबसे बड़ा दोष तो यह होगा कि जब एकान्त रूप से आत्मा ही शरीर का कर्ता है तो फिर वह उसे करने से क्यों बन्द होगा एवं फिर मुक्ति होना असम्भव ही हो जावेगा। परन्तु बात यह कि -

जो हैं व्यवहार में फँसे वे पर को अपना कहते हैं ।
निश्चय पर जा टिके निज बिना नहीं लेश भी गहते हैं ॥
किसी गांव में बसकर उसको मूढ आपका कहता है ।
वैसे ही ज्ञानी होकर भी यदि परको मम गहता है ॥१९१॥

तो वह भी झूठा ही है पर पदार्थ को अपनाने से ।
माना जा सकता है पूरा उसका सच्चा पन कैसे ॥
ऐसे सम्यक्त्व को जिनेश्वर ने सराग बतलाया है ।
श्रद्धा होकर के भी उसने नहीं राग ख़ो पाया है ॥१९२॥

शङ्का - एक सम्यग्दृष्टि जीव तो जब तक व्यवहार में फँसा है तब तक यह शरीर मेरा है मैं इसका अधिष्ठाता हूँ एवं ये स्त्री, पुत्र, धन, मकान मेरे हैं मैं इनका अधिकारी हूँ ये मेरे अधिकार में हैं ऐसा कहता है किन्तु अन्तरङ्ग से तो उन्हें पर समझता है। अपितु एक मिथ्यादृष्टि जीव तो सर्वे सर्वा उन्हें अपने मानता है दोनों एक कैसे हो सकते हैं। इस पर आचार्य ने कहा है कि- भाई जिस नगर में रहता है उसको मोही जीव जिस प्रकार अपना कहता है उसी प्रकार ज्ञानी होकर भी वैसा ही कहता रहे तो वह ज्ञानी कैसा वह तो झूठा ही है उसे सच्चा नहीं कहा जा सकता। किञ्च अगर कहा जाय कि सम्यग्दृष्टि जैन तो अपने अधिकार में आये हुए शरीर पुत्रादि को भी पर कह कर स्वीकार करता है- उन्हें पर मानते हुए भोगता है तो फिर ऐसा होने से तो वह बिलकुल ही चोर ठहरा। पर चीजों का हथियाने वाला साहूकार या सच्चा कभी नहीं कहा जा सकता इससे तो किसी अंश में वही ठीक है जो कि न्यायोचित व्यवहार प्राप्त चीजों को अपनी मानता है अतः उन्हें स्वीकार करता है। किन्तु अपने अधिकार से बाहर की चीजों को पर मानता है इसलिये उनसे दूर रहता है, व्यवहार का सच्चा है। खैर। मतलब यह कि अध्यात्म भाषा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

में तो वही सम्यग्दृष्टि है जो सम्पूर्ण वाह्य पदार्थों को पर समझते हुए उनसे दूर हट कर सिर्फ आत्माधीन हो रहा हो । सब कुछ को छोड़ कर एकान्त रूप से आत्मानुभव में वीतरागता पूर्वक तल्लीन हो रहा हो । हाँ अगर हम आगम भाषा को स्वीकार करें तो वहाँ पर साधारण तोर से सम्यग्दृष्टि दो तरह का बताया गया है-सराग सम्यग्द्दष्टि और वीतराग सम्यग्द्दष्टि । मोहनीय कर्म में से दर्शन मोह गल कर जिसका विश्वास तो अध्यात्म बन गया हो परन्तु चारित्र मोह के होने से जिसकी वृत्ति अध्यात्म न हो पाई हो अर्थात् सच्चिदानन्द भाव के सिवाय और सब चीजें आत्मा से भिन्न हैं पर हैं इस प्रकार की गुरु की वाणी को हृदय से मान तो ली हो परन्तु उस पर पूरी तोर से अमल न कर सक रहा हो अपने भोगोपभोग योग्य चीजों से जिसके कुछ न कुछ ममत्व बन रहा हो वह सराग (अर्द्धदग्ध) सम्यग्द्दष्टि कहाता है । और जिसका दर्शन मोह गल कर के चारित्र मोह भी गल चुका हो जो रागद्वेष मोह इन तीनों से बिलकुल रहित हो चुका हो विश्वास की तरह प्रवृत्ति भी जिसकी वाह्य पदार्थमय न रही हो वह वीतराग सम्यग्दृष्टि माना जाता है। साराँश यह कि रागादिक विकार भावों पर विजय प्राप्त करना ही आत्मा का पुरुषार्थ है और ऐसा करने वाला ही सम्यग्दृष्टि है । अस्तु । ये रागादिक भाव क्या चीज हैं जिन पर विजय पाने की आवश्यकता है -

जीव कर्म दोनों के हों तो दोनों को फल दायक हों ।
यदि केवल कर्मों के तो उनको चैतन्य विधायक हों ॥
कादाचित्क पना होने से बिना किये कैसे होवें ।
रागादिक हैं कार्य जीव के यावत् वह द्विविधा जोवे ॥१९३॥

अगर इन रागादिक भावों को केवल कर्मों का ही कार्य मान लिया जाय तब तो रागादि भाव जब कि सम्वेदन रूप हैं तब कर्मों के भी सम्वेदन पणा चेतन पणा होना चाहिये क्योंकि सर्वथा अचेतन में से चेतन भाव की उत्पत्ति हो नहीं सकती । और अगर जिस प्रकार जीव में से उसी प्रकार कर्म पुद्गल में से भी, दोनों में से एक समान रूप से पैदा हुए कहे जावें तो इन रागादिक भावों का फल जैसा जीव को भोगना पड़ता है वैसा ही कर्म पुद्गलों को भी भोगना पड़ना चाहिये । और अगर कहा जाय कि न तो इन्हें जीव ही करता है और न कर्म ही दोनों में से किसी का भी कार्य नहीं अपितु सहज हैं सो ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ***************************

रागादिकभाव कादाचित्क हैं अतः मानना चाहिये कि जीव ही इनका कर्ता है जब तक कि वह दुविधा में पड़ा हुआ है पर पदार्थों को अपना माने हुए रहता है तब तक किसी को भला और किसी को बुरा मानना इस जीव का कार्य है। परन्तु फिर भी कुछ लोगों का विचार इससे उलटा होता है वे कहा करते हैं कि -

कर्म किया करता चेतन को जागृत अज्ञानी ज्ञानी ।
दुखी सुखी मिथ्यात्वी किंवा स्वैरिजनों का अगवानी ॥
नीचे ऊपर इधर उधर में कर्म घुमाया करता है ।
ज़ो कुछ भला बुरा कर्ता है उसे कर्म ही करता है ॥१९४॥

रमाभिलाषी पुरुष वेद नरकामी नारी वेद कहा ।
ऐसे चेतन तो व्यभिचारी अपने मत में नहीं रहा ॥
यों साँख्योपदेश को मानस जिन यतियों का-धर्ता है ।
कहते हैं है खेल कर्म का जीव नहीं कुछ कर्ता है ॥१९५॥

माना है आगम में कर्ता तो आत्मा को आत्मा का ।
उन ऐसा कहने वालों का भी विचारने का साका ॥
निज प्रदेशों को कम वेशी करे कि ज्ञायक पन को वा ।
दोनों ही बातों में तो न सुआंखा हो काना कौवा ॥१९६॥

भावार्थ- कोई जैन मुनि भी स्याद्वाद रूप वाणी के मतलब को ठीक न समझ कर सर्वथा एकान्त लेते हुए कहे कि अज्ञान ज्ञान सोवना जागना, सुख दुःख, मिथ्यात्व, असंयम चारों गतियों में भ्रमण तथा और भी जो शुभाशुभ भाव हैं उन सबका करने वाला कर्म ही है जीव का इनसे कोई बिगाड़ सुधार नहीं है जीव तो अकर्ता ही है। ऐसा साँख्यमतियों का सा अभिप्राय प्रगट करे और जब उससे पूछा जावे कि फिर आत्मा को कर्ता जो कहा जाता है वह क्यों तो उसके जवाब में भी बहाना बना कर कहे कि आत्मा तो अपने आप का ही कर्ता है। परन्तु यह उसका कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा आत्मत्व के रूप में तो नित्य माना गया है वह अपने आपको क्या करेगा। पुद्गल स्कन्धो में से कुछ परमाणु निकल जाते हैं या उसमें और आ जाते हैं ऐसा तो आत्मा में माना नहीं जा सकता! अगर कहा जाय कि! प्रदेश संहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्, इस सूत्र के अनुसार आत्मा रबड़ की भांति सिकुड़ता और फैलता है कि नहीं बस उसी का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

********** *************************

कर्ता आत्मा है ऐसा तो यह भी तो विकार ही तो हुआ। सर्वथा निर्विकार का सिकुड़ना और फैलना कैसा ? और जब वह मान लिया जावे तो फिर और विकारों में क्या आपत्ति है वे सब भी तो उसी के साथ ही तो हैं। और इसे भी न मान कर कहा जावे कि आत्मा तो सिर्फ अपने ज्ञायक भाव का ही कर्ता है तो इसमें भी यही विचार है कि ज्ञायकत्व सामान्य की अपेक्षा तो वह भी सदा काल रहता ही है। ज्ञायकत्व विशेष को लेकर कहा जावे कि आत्मा उसे कभी कम तो कभी वेशी करता है अर्थात् कभी कम जानता है और कभी वेशी तो ठीक ही हो गया इसी का तो नाम विकार है अतः।

जीव रबर की भांति फैलता और संकुचित होता है।
असंख्यात देशी होकर भी निज शरीर में सोता है॥
क्षणिक जीव पर्याय दृष्टि से करे और भोगे कोई।
द्रव्य दृष्टि से नित्य करे जैसा वैसा भोगे सोही॥१९७॥

जब कि जीव रबर की तरह से घटने बढने वाला है चिउटी का शरीर पाता है तो उसी में समा जाता है और हाथी का शरीर धारण करता है तब उतना बड़ा बन जाता है तो फिर एकान्त से जीव को टंकोत्कीर्ण नित्य ही मान बैठना सत्य का अपलाप करना है जो बात प्रत्यक्ष स्पष्ट निर्विवाद है उसको भी न मानना सो तो पागल पन है। हाँ ऐसा होने पर भी जीव अपने सम्वेदन सामान्य से रहित कभी नहीं होता, जान पना चाहे कम हो या वेशी सदा उसमें बना ही रहता है वह उससे बिलकुल शून्य जड़ कभी नहीं हो सकता अतः द्रव्यत्व सामान्य को लेकर तो यह जीव नित्य सदा एकसा रहने वाला है परन्तु इसकी विशेषताओं को ध्यान में रखकर पर्याय दृष्टि से देखा जाय तो यही जीव क्षणिक भी है प्रति समय और का और होता रहता है ये दोनों ही बातें इस जीव में एक साथ हैं। एवं पर्याय दृष्टि से देखा जाय तब तो कर्ता कोई और है तो भोगने वाला उसका कोई और ही है जैसे कि नर पर्याय में शुभ अशुभ कर्म किये उसका फल देवादि पर्याय में भोग पाया परन्तु द्रव्य दृष्टि से जो कोई करता है वही भोगता है क्योंकि मनुष्य पर्याय में जिस जीव ने जैसे भले या बुरे कर्म किये हों उनका फल देवादि की हालत में हो कर वही भोगता है और जीव नहीं। इस तरह वस्तु का स्वरूप अनेकान्त सिद्ध है इसलिये–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

करता और भोगता कोई ही यह थी भी ठीक नहीं ।
कर्ता वही भोगता ऐसा भी हटवाद न कहा सही ॥
अनेकान्त की शरण लिये सब बात ठीक हो जाती है ।
जो उसको भूल रहा सो ही होता निज़ात्म घाती है ॥१९८॥

शुद्ध - ऋजुसूत्रनय का एकान्त पकड़ कर वर्तमान एक अंश को ही वस्तु मान कर - जो करता है वह भोगता अर्थात् जानता नहीं और जो भोगता है जानने वाला है वह करने वाला नहीं, ऐसा ही मानने लगना ठीक नहीं, वस्तु स्वरूप के विरुद्ध एवं भगवान् अरहन्त के शासन से बाहर का है। क्योंकि पर्याय में क्षणिकपना होने पर भी द्रव्यरूप चैतन्य चमत्कार तो अनुभव गोचर नित्य रहने वाला है जो मैं बालक अवस्था में था और वहाँ भूलकर अज्ञान भरी न करने योग्य बातें कर बैठता था और वही मैं अब जवान या वृद्ध हो चुका हूँ समझदार बन गया हूँ अब मेरा वह कार्य नहीं रहा ऐसा हर आदमी के जानने में आता है और जिन वाणी भी कहती है उसे नहीं मानना सो मिथ्यादृष्टि पना है। परन्तु हाँ जो करता है वही जानता भी है सर्वथा ऐसा भी हट करना ठीक नहीं। भला जरा सोचो तो सही कि जब हम भूल रहे होते हैं उस समय उसको हम कहाँ जानते हैं दूसरा ही तो बताता है कि तुम भूल रहे हो अतः कथंचित् वाद स्याद्वाद सिद्धान्त को माने बिना काम नहीं चलता जो उसे नहीं मानता वह अपने आपका बुरा करता है इसमें कोई सन्देह नहीं। इस प्रकार जीव भी पुद्गलादि की तरह कथंचिन्नित्यानित्य है इस बात को नीचे और स्पष्ट करते हैं -

पहली हालत को तज कर अगली के लिये दौड़ता है ।
इतर चीज की तरह जीव आपे को नहीं छोड़ता है ॥
नारक से नर नारकी व नारायण भी बन जाता है ।
किन्तु कहो क्या जीव भाव को जरा कहीं खोपाता है ॥१९९॥

मतलब यह कि हरेक पदार्थ अपने अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भाव को लिये हुये अपने आप में परिणमनशील है वह अपने अगुरु लघुगुण की अपेक्षा से समय-समय में समान रूप से और का और होता ही रहता है जैसे कि किसी भी रत्न में से उसकी किरणें निकला करती हैं। एवं च इसको अर्थ पर्याय कहते हैं किन्तु पदार्थ में एक विशेष परिणमन भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है जो कि व्यञ्जन पर्याय कहलाता है वह किसी भी वाह्य पर पदार्थ के निमित्त से हुआ करता है उसके बिना नहीं होता जैसे कि सूर्य विम्ब में से प्रकाश देने वाली किरणों का निकलना तो सहज है किन्तु उसी की ग्रहण रूप अवस्था राहु का संयोग पाकर ही हुआ करती है उसके बिना नहीं होती इसीलिये पदार्थ का परिणमन भी कथंचित् स्वतन्त्र और कथंचित् परतन्त्र भी माना गया है । जीवात्मा का परिणमन भी दोनों ही तरह का होता है, हरेक पदार्थ को जानने में प्रवृत्त होना या जानते रहना यह तो सहज परिणमन है परन्तु उसमें खुशी और रञ्ज मानना या नारकीय देव पशु वगैरह होना कर्मों की वजह से होता है । जबकि एक नारकीय जीव आयु बन्ध के काल में अपने मन्द कषाय रूप परिणामों के द्वारा मनुष्यायु का बन्ध कर लेता है तो उससे वह मर कर मनुष्य बनता है इसके विरुद्ध उसने अगर पशु पर्याय का बन्ध किया है तो मनुष्य नहीं किन्तु पशु ही होगा। इत्यादि इस जीव का हाल है जो कि नाना तरह के कर्मों का बन्ध किया करता है तथा उसका फल भी भोगता है उसी को नीचे फिर स्पष्ट करते हैं -

करे कर्म यह जीव आपके अपने उपकरणों द्वारा ।
शिल्पकार की तरह आप ही पावे उसका फल सारा ॥
किन्तु न उनसे तन्मय होकर रहता यों व्यवहार बना ।
अब जो निश्चयनय कहता है उसका भी सुन लो कहना ॥२००॥

जैसे सुनार आदि कारीगर लोग, हथोड़ा वगैरह उपकरण-हथियारों द्वारा कुण्डल वगैरह बनाकर उनका फल पाता है अपनी आजीविका चलाता है जो कि कुण्डलादि भिन्न होकर भी उन सुवर्णकारादि का कार्य और सुवर्ण कारादि उनके कर्ता कहलाते हैं । उसी प्रकार जीवात्मा भी मन, वचन, काय स्वरूप पौद्गलिक उपकरणों द्वारा ज्ञानावरणादि रूप कर्मों का उपार्जन करता है और उनका फल पुण्य पाप रूप या सुख दुःख रूप भोगता रहता है । ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध मात्र कर्ता कर्मपणा और भोक्ता भोग्य पणा होता है । यहाँ कर्ता कर्मपणा होकर भी दोनों तन्मय नहीं अपितु भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं यह बात स्पष्ट करने के लिये आचार्यों ने इसे व्यवहार कहा है । और कोई बात नहीं है । अस्तु । अब निश्चयनय किस तरह क्या कहता है सो भी नीचे बताते हैं -

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

घटादि में जो शिल्पकार की चेष्टा होती है सारी ।
उससे तन्मय होकर के वह होता सुख दुख का धारी ॥
वैसे ही योगोपयोग से तन्मय होकर कर्म करे ।
उसके ही अनुसार जीव यह इस दुनियां में कष्ट भरे ॥२०१॥

जैसे कुम्भकार मिट्टी का घड़ा बनाता है वहाँ मिट्टी या घड़ा उसका जो बनता है वह तो उस कुम्हार से पृथक् चीज है अतः व्यवहार मात्र है परन्तु वही उस घड़े को बनाने वाला कुम्हार जब कि घड़ा बनाना चाह रहा हो उस समय वह अपने हाथ वगैरह को हिलाने रूप जो भाव कर रहा है कुम्हार तो उसका कर्ता है और हाथ आदि हिल कर उसके द्वारा घड़ा बनता है। एवं उस घड़ा बनाने के लिये जो हाथ आदि हिलाने रूप भाव होते हैं उनसे जो श्रम होता है उसी का वह भोक्ता है अथवा उससे जो भला या बुरा घड़ा बना जैसा वह चाह रहा था वैसा ही' या उससे और तरह का, उससे जो उस कुम्हार को हर्ष विषाद होता है उसी का वह भोक्ता है वैसे ही यह आत्मा जब कोई भी कर्म करना चाहता है तो तदनुकूल मन, वचन और काय की चेष्टा रूप से आत्मा में जो कम्प होता है उसका नाम तो योग और घड़े को बनाने रूप जो विचार-उपयोग इन दोनों का ही कर्ता होता है तथा उसमें उसे जो आकुलता हुई उसका या यों कहो कि उन कर्मों के निमित्त से जो परतन्त्रता हुई उसका वह भोक्ता है क्यों कि वह सब इस आत्मा का परिणाम है अतः वह इससे अभिन्न होता है। तात्पर्य यह कि वास्तव में आत्मा अपने भले बुरे परिणाम करता है और उनसे कर्म सम्पन्न होते हैं अतः कर्मों का कर्ता आत्मा व्यवहार से होता है। यही निश्चय तथा व्यवहार में भेद है परन्तु आत्मा को कर्ता तो दोनों ही नय स्वीकार करती हैं। एक उसे घुमाव देकर मानती है तो दूसरी उस घुमाव को गौण कर सीधा स्वीकार कर लेती है। ऐसे तो अगर देखा जाय तो फिर ज्ञाता दृष्टा भी तो पर पदार्थों का आत्मा व्यवहार से ही तो होता है सो ही नीचे बताते हैं -

वेश्म सपेदी के प्रयोग से ही सपेद कहलाता है,
किन्तु सपेदी भिन्न वस्तुतः भिन्न मकान दिखाता है।
वैसे ही ज्ञानोपयोग से ज्ञेय घटादिक होते हैं,
ज्ञान ज्ञानमय हम घटादिको तो विभिन्न ही पाते हैं ॥२०२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ **************************

अर्थात् -कर्म आत्मा से भिन्न वस्तु हैं इसलिये उनका कर्ता आत्मा को यदि न मानें तो फिर अपने सिवाय जो अन्य पदार्थ हैं उनका ज्ञाता भी आत्मा को नहीं मानना होगा और उसके द्वारा उन सबको ज्ञेय । तथा च परका जहाँ ज्ञान नहीं तो उसके बिना अपना भी ज्ञान कहां इस तरह ज्ञायकपन का ही अभाव ठहरेगा । अगर कहा जावे कि निश्चय से तो आत्मा को आत्मा का ज्ञाता ही कहा गया है औरों का ज्ञाता तो व्यवहार से ही होता है तो इसका अर्थ तो इतना ही है कि आत्मा का ज्ञान गुण आत्मा को अपने से अभिन्न रूप में जानता है और पर पदार्थों को भिन्न जैसा है वैसा जानता है । इसीलिए आत्मा ज्ञाता और पर पदार्थ उस ज्ञान के ज्ञेय होते हैं । किञ्च -

श्रद्धासे श्रद्धेय चर्य चारित्र से कहे जाते हैं ।
तीनों ही गुण आत्मद्रव्य से तन्मयता को पाते हैं ।।
ज्ञाता दृष्टा श्राद्ध और चरितार्थ जीव कहलाता है ।
तत्वोंका व्यवहार मात्र से किन्तु आत्मता पाता है ।।२०३।।

इसी प्रकार श्रद्धान आत्मा में अभिन्न और पर पदार्थों में भिन्न रूप से होता है । जिससे कि आत्मा तो श्रद्धाता या श्राद्ध किन्तु सब पदार्थ श्रद्धेय होते हैं । तथा चारित्र और सबको छोड़ कर उन से भिन्न होकर आत्मा को तन्मयता से स्वीकार करना है ताकि आत्मा चरितार्थ होकर और सब पदार्थ चर्य होते हैं । मतलब कि श्रद्धान ज्ञान और आचरण ये तीनों ही आत्मा के गुण या परिणाम हैं अतः आत्मा से अभिन्न होकर और चीजों से भिन्न होने के कारण उनका श्रद्धान ज्ञान आचरण आत्मा को व्यवहार मात्र से कहा जाता है । इस पर अगर कोई कहे कि व्यवहारनय को तो हमारे आचार्यों ने व्यर्थ बतलाया है तो देखो -

निश्चय नय की दृष्टि में मुधा है व्यवहार कहा जाता।
अपने विषय वस्तु को वह भी किन्तु ठीक है बतलाता ।।
उसे व्यर्थ बतलाने वाले बौद्धादिक मिथ्या दृष्टि
जिन शासन में दोनों की निज निज पदार्थ पर है सृष्टि ।।२०४।।

यदि व्यवहार की बात को भी निश्चय के रूप में लिया जायगा तो वह झूठ ही होगी जैसे कि ज्ञान अपनी आत्मा को भी जानता है और घटादि को भी । अब अगर कोई समझ ले कि ज्ञान घटादि को जानता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ *************************

है अतः वह घटादि से भी अभिन्न है जैसा कि अपनी आत्मा से तो वह मानना तो गलत ही होगा । किन्तु व्यवहार को व्यवहार की तौर पर लेना अर्थात् ज्ञान घटादि को जानता जरूर है परन्तु वह उनसे भिन्न है आत्मा का गुण है घटपटादि को तो ज्ञेय रूप में जानता है तो ऐसा कहना तो ठीक ही है । इसको ग़लत मानना- घटपटादि ज्ञान के विषय ही नहीं हैं ज्ञान-ज्ञान को ही जानता है- ज्ञान ही घटादि के रूप में- परिणत हो जाता है वाह्य वस्तु तो कोई चीज नहीं है ऐसा मानना तो विज्ञाना द्वैतवादी बौद्धों का है । जैन शासन से बाहर का है । श्री जिन भगवान् महावीर स्वामी के कहने में तो ज्ञान जिसका गुण है वह आत्मा जिस प्रकार एक चीज है वैसे ही घटपटादि भी हैं और दीपक का प्रकाश उन्हें स्पष्ट कर देता है वैसे ही आत्मा का ज्ञान उन्हें जानता है । जैसे आत्मा द्रव्य अमिट है वैसे ही यह दुनियां का खेल भी अनादि का है और अनन्त काल तक रहेगा अतः

पञ्चेन्द्रिय विषयों में ज्ञानावरणादिक में शरीर में,
कुछ न घातने लायक आत्माका कि, आपमें आप रमें ।
अज्ञानाश्रद्धनोद्वर्तन का स्वभाव से नाश करें,
परमोत्तम समाधि में लगकर तो यों इसका काम सरे ॥२०५॥

ज्ञानादिक घटने में चेतन घटे न पुद्गल जरा अहो,
ज्यों प्रकाश मिटने पर दीपक मिटे न घटका विनाश हो ।
अतः जीव के ज्ञानादिक गुण हैं पुद्गल के कभी नहीं,
जैसे दीपक का प्रकाश, घठका हो सकता कहो कहीं ? ॥२०६॥

राग रोष या मोह नाम ये हैं अज्ञादिक के ही,
जो अनन्य परिणाम जीव के ताकि कर्मकृत् हो देही ।
बस तो सम्यग् दृष्टि का न यों राग भाव शब्दादिक में,
वह तो और सभी से हटकर अपने से आपमें रमें ॥२०७॥

इन छन्द नं. २०५ से २०७ के छन्द से समुल्लिखित गाथा नं. ३६६ से ३७१ तक की गाथाओं में आचार्य महाराज ने यह बतलाया है कि मुमुक्षु जीव क्या करे क्या वह ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश करे या अपने शरीर का अथवा पञ्चेन्द्रियों के विषय शब्दादि का ? किन्तु नहीं क्यों कि आत्मा का इनसे वस्तुतः कोई बिगाड़ सुधार नहीं है । ये सब तो आत्मा से भिन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** **************************

कहे जाने वाले पुद्गल द्रव्य की करतूतें हैं, आत्मा इनका नाश क्यों करे और करना चाहे तो कर भी नहीं सकता । आत्मा को तो अपनी समाधि के बल से अपने अज्ञान दुःश्रद्धांन और उन्मार्गगामिता इन तीन खोटी आदतों का नाश करके सही आदत पर आना चाहिये क्यों कि इन्हीं अपने अज्ञानादि भावों के द्वारा इसके ज्ञानादिक सहज भावों का ह्रास हो रहा है । जिससे कि यह तीन लोक का प्रभु होते हुये भी दब्बू होकर दर-दर का भिखारी हो रहा है । ज्ञानादि की वृद्धि में आत्मा की वृद्धि और उनकी हानि में आत्मा की हानि होती है तथा ज्ञानादिक का ह्रास अज्ञानादिक से होता है जिसको कि रागद्वेष और मोह कहा जाता है और जो कि आत्मा के ही परिणाम हैं । यद्यपि इनको पहले पौद्गलिक बतलाया गया है परन्तु उसका मतलब तो इतना ही है कि ये सब पुद्गल द्रव्य के सम्बन्ध से होते हैं किन्तु होते आत्मा में ही हैं अतः सम्यग्दृष्टि जीव तो शब्दादि वाह्य विषयों की तरफ कोई निगाह न करके और सब तरफ से अपने उपयोग को हटाकर अपने सहज भाव के द्वारा उस अज्ञान भाव को मिटाकर अपने आप में लीन हो रहता है ।

वस्तु तया देखें तो राग द्वेष और के किये नहीं,
पुद्गल तो स्पर्शादि युक्त, चेतन ही इनकी मूल मही ।
घट मिट्टी से बने न उसमें कुलालका गुण धर्म जरा,
और द्रव्य का और नहीं उत्पादक हो यह नियम खरा ॥२०८॥

राग रोष की समुत्पत्ति में नहीं और का दोष जरा,
चेतन का अज्ञान भाव ही उसका सर्जक एक खरा ।
यों विचार करके विवेक का धारक जो नर होता है,
आपे में आकर उनको वह जड़ा मूल से खोता है ॥२०९॥

रागादिक की पैदायिस में पर को निमित्त कहते हैं,
यों उसके उच्छेद के लिये निरुद्यमी हो रहते हैं ।
वे अनन्य चैतन्य शक्ति घटितात्म बोध यत्नि बिना धरे,
इस अगाधसंसारोदधि से कहो कि कैसे पार तरे ॥२१०॥

मतलब- निमित्त कोई चीज नहीं या वह बिलकुल कुछ भी करता ही नहीं सो बात नहीं है । श्री आदि पुराण जी में बतलाया हुआ है कि जब महाराज भरत चक्रवर्ती षट्खण्ड पथ्वी का दिग्विजय कर वापिस अयोध्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** ***********************

में प्रवेश करने लगे तो चक्ररत्न द्वार पर ही अटक गया क्योंकि बाहुबलि वगैरह उनके भाई लोग ही उनके शासन को स्वीकार नहीं किये हुये थे इस बात को जानकर चक्रवर्ती एक दम आग बबूला हो पड़े। उन्हें एक अत्यधिक क्रोध में आये देख कर पुरोहित ने कहा कि- महाराज आपको उन लोगों पर इतना क्रोध नहीं करना चाहिये वे सब तो अभी बालक हैं बालकों से भूल होती ही है उनके पास एक समझदार दूत को भेज कर समझाया जाय फिर देखा जायगा इस तरह कहने से कुछ शान्त हुए। यह सब निमित्त ही की तो बलिहारी है किन्तु निमित्त के ही पीछे लगे रहना अपने आपका कोई पुरूषार्थ नहीं करना सो अज्ञान है जिससे कि कभी संसार का अभाव नहीं हो सकता क्योंकि संसार के साधक दुर्निमित्त तो इस आत्मा के लिए सदा बने ही हुए हैं। अस्तु। निमित्त कारण दो प्रकार के होते हैं एक प्रेरक और दूसरा उदासीन। जोकि किसी भी कार्य को करने के लिए हमें बाध्य कर रहा हो जैसे कि चक्र के न विश्राम लेने से विवश होकर भरत चक्रवर्ती सरीखे क्षायिक सम्यग्दृष्टि को भी भाइयों के साथ विद्रोह करना पड़ा ऐसे निमित्त को प्रेरक निमित्त कहते हैं। दूसरा उदासीन कारण वह होता है जोकि हम कोई कार्य करें तो उसमें हमें सहायक होता है और न करें तो कोई बात नहीं। अब अगर कोई किसी कारण विशेष से बाध्य होकर अपना बिगाड़ करता हो यह बात तो दूसरी है किन्तु यह भोला जीव जिन शब्दादीन्द्रिय विषयों के पीछे पड़ कर अपना संसार बढ़ा रहा है और दुख भोग रहा है यह तो इसकी बेसमझी है शब्दादिक इसे वैसा करने के लिये बाध्य थोड़े ही करते हैं यही नीचे लिखा जाता है -

नहीं राम को श्याम की तरह शब्दादिक इस चेतन को,
कहते हैं कि नहीं क्यों जानों आप हमारे गुण धन को।
और न चुम्बक से खिच करके लोह की तरह जाता है,
यह चेतन भी उन तक किन्तु प्रकाश्य प्रकाशक नाता है ॥२११॥

यह दीपक की तरह सदाका तदपि न जाने अज्ञानी,
क्यों इनमें अच्छा खोटा पन मानि दिखाता नादानी।
राग रोष से रहित सच्चारित्र प्रभाव से तो ज्ञानी,
ज्ञान चेतना का अनुभव करता रहता तजि शैतानी ॥२१२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

शङ्का – आप तो लिखते हैं कि लोहा की सलाई वगैरह लोह चुम्बक से खिचती है बाकी हम ने कानजी स्वामी का वस्तु विज्ञानसार पढ़ा है उसके पृष्ट ५२ में लिखा है कि लोह चुम्बक की ओर लोह की सूई खिचती है वहाँ लोह चुम्बक सूई को नहीं खींचता । किन्तु सूई अपनी योग्यता से ही गमन करती है ।

उत्तर – भैया जी सूई की अपनी योग्यता का अर्थ क्या ? यही तो कि चुम्बक को सम्मुख में आते ही वह खिच कर उस के पास चली जाती है जब कि उससे जबरदस्त कोई आदमी का हाथ वगैरह उसे पकड़े हुए न हो, सो ठीक ही है किन्तु चुम्बक का भी तो यह स्वभाव है कि उस सूई को अपनी ओर खींच लेता है । जैसा कि आत्मख्याति में लिखा है – तथावहिरर्थोऽपि शब्दादिर्माबुध्यस्वेति स्वज्ञाने नात्मानंप्रयोजयति नचात्माप्ययः कान्तोपलाकृष्टाय:सूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्यतं ज्ञातुंमायाति । इसी प्रकार तात्पर्य वृत्ति में भी लिखा है कि – किंच यथाय स्कान्तोपलाकृष्टासूचीस्वस्थानात् प्रच्युत्यायस्कान्तोपलसमीपं गच्छति तथा शब्दादयश्चित्तक्षोभरूप विकृतितकरणार्थ जीवसमीपं न गच्छन्ति । जीवोऽपितत्समीपं न गच्छति इत्यादि । यहाँ दोनों ही आचार्यों ने स्पष्ट लिखा है कि लोहे की सलाई चुम्बक के द्वाराही खिचती है । अब अगर थोड़ी देर के लिए पूर्वोल्लिखित आचार्य वचन को न देख कर, वस्तु विज्ञानसार के लेख को ही सही मान लें तो उसका यह भी मतलब हो जाता है कि – घटादि पदार्थ अपनी योग्यता से ही ज्ञेय होते हैं, जाने जाते हैं किन्तु ज्ञान उन्हें नहीं जानता । सो ऐसी बात श्री जैन शासन में तो कहीं नहीं है वहां तो स्पष्ट यह बतलाया है कि घट और दीपक के परस्पर प्रकाश्य प्रकाशक सम्बन्ध हैं । दीपक घट को प्रकाशित करने वाला है तो घट दीपक के द्वारा प्रकाशित होने वाला है वैसे ही ज्ञान पदार्थ को जानने वाला है और पदार्थ उसके द्वारा जानने योग्य। तिस पर अज्ञानी जीव उसे भला बुरा मान कर फँस रहता है किन्तु विरागी जीव मध्यस्थ होते हुए ज्ञायक मात्र होता है ताकि –

पूर्ववद्ध शुभ अशुभ कर्म को उल्लंघन कर जाता है,
परम समाधितया वह सच्चा प्रतिक्रमण हो पाता है ।
भावि बन्ध के हेतु भाव से बचा हुआ भी रहता है,
इसीलिए वह सच्चे प्रत्याख्यान नाम को कहता है ॥२१३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्तमान के विपाक से भी भिन्न आपको लखता है,
यों आलोचन बन करके समरसी भाव को चखता है।
अविच्छिन्न सच्चारितरूप हो ज्ञान चेतना में आता,
वह निर्द्वन्द्व निराकुल होकर परम धाम को है पाता ॥२१४॥

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य स्वरूप अपने आपका श्रद्धान करना अपने आप को जानना और अपने आप को अनुभव करना इस तरह के अभेद रत्नत्रय लक्षण वाले परम सामायिकमय बन कर जो अपने आपको शुभाशुभ कर्मों के उदय से होने वाले भले और बुरे दोनों ही प्रकार के परिणामों से बचाये हुए रहता है अतः जो भावों के कारण भूत पूर्व कर्मों को सहज से उल्लंघन कर जाता है इसलिए तो वह सच्चे प्रतिक्रमण रूप होता है। और जब वह अगामी कर्म बन्ध के कारण भूत रागद्वेष और मोह रूप भावों को होने ही नहीं देता तब आगे के लिए उसके कर्म बन्ध कहाँ से होगा यों उससे भी बचा हुआ रहता है अतः खुद ही प्रत्याख्यानमय हो लेता है। तथा वर्तमान में, उदय आने वाले कर्मों के फल से भी अपने आपको बचाये हुए उससे बिलकुल दूर होता ही है इसलिये आलोचना रूप भी होता है। इस तरह वह हर समय अपने ज्ञान स्वभाव में मग्न होने के कारण पूर्ण चारित्र हो लेने से निर्द्वन्द्व और निराकुल होकर परमात्मपन को प्राप्त कर लेता है। यह ज्ञान चेतना का वर्णन हुआ इससे उलटी अज्ञान चेतना होती है सो बताते हैं-

आत्मभिन्न परिणामों में मैं इनका हूँ करने वाला,
तथा भोगने वाला ऐसा विचार होता है ठाला।
कर्म कर्म फल रूप यही अज्ञान चेतना कहलाती,
जोकि बन्ध का कारण हो भववृक्ष वीजता को पाती ॥२१५॥

अर्थात् सच्चिदानन्द-ज्ञानस्वरूप आत्मा के सिवाय और किसी भी बात में संलग्न आत्मोपयोग का नाम अज्ञान चेतना है जो कि आत्मा के लिये नवीन कर्म बन्ध का कारण होती है। वह कर्म चेतना और कर्म फल चेतना के भेद से दो भागों में विभक्त होती है। मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं इत्यादि कर्म फल के अनुभव रूप विचार का नाम कर्मफल चेतना है और मैं ऐसा करता हूँ वैसा करता हूँ इत्यादि व्यवसाय रूप विचार का नाम कर्म चेतना कहा जाता है। एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पञ्चेन्द्रिय तक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** **************************

जीवों के कर्मफल चेतना ही रहती है किन्तु संज्ञी पञ्चेन्द्रिय की अवस्था में कर्म चेतना का प्रादुर्भाव होता है जिसका सद्भाव हीनाधिक रूप में दशवें गुण स्थान के अन्त तक रहता है, इसके ऊपर ज्ञान चेतना होती है ऐसा जैन सम्प्रदाय है । एवं कर्मफल चेतना या कर्म चेतना रूप अज्ञान चेतना वाला जीव हीनाधिक रूप में ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध हर समय करता ही रहता है । हाँ इस विषय में पण्डित राजमल जी काष्ठा संघी की मान्यता कुछ भिन्न है जैसा कि उन्हों ने अपने पञ्चाध्यायी नाम ग्रन्थ की दूसरी अध्याय में लिखा है -

किञ्च सर्वत्र सद् दृष्टे नित्यं स्याद् ज्ञान चेतना
अविच्छिन्न प्रवाहेण यद्वाऽखण्डैक धारया ।।८५१।।

अर्थात्-पण्डित जी का कहना है कि चतुर्थ गुण स्थान में जब दर्शन मोह का उपशमादि होकर सम्यग्दर्शन होता है तभी उसका ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान से सम्यग्ज्ञान बन जाता है, भले ही वह एक चीज को छोड़ कर दूसरी को जान रहा हो । आत्मोपयोगी न होकर स्त्री सम्भोगादि में लग रहा हो परन्तु उसके सम्यग्ज्ञानत्व में कोई बट्टा नहीं होता वह सदा रहता है अतः हर समय ज्ञान चेतना भी होती है । मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा के मिथ्यात्व होने से कर्म और कर्मफल रूप अज्ञान चेतना होती है इस पर प्रश्न यह होता है कि जब स्त्री प्रसङ्ग कर रहा है या युद्ध में किसी को मार रहा है उस समय तो उसके कर्म चेतना या कर्मफल चेतना रूप अज्ञान चेतना ही है ज्ञान चेतना कहाँ है इस पर पण्ति जी कहते हैं कि -

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित्कर्म चेतना।
अपिकर्मफले सास्या दर्थतो ज्ञान चेतना ।।२७५।। अ.२

किसी सम्यग्दृष्टि के अर्थात् चतुर्थादि गुणस्थान वाले के कर्म चेतना या कर्मफल चेतना भी होती है किन्तु उसके भी वह ऊपर से ही होती है अन्तरङ्ग में तो उसके ज्ञान चेतना ही बनी रहती है । इसके समझने के लिये मान लो किं एक आदमी ने ज्योतिष वैद्यक सङ्गीत वगैरह अनेक शास्त्र पढ़े हैं और काम वैद्यपने का कर रहा है तो उसका ज्योतिष वगैरह का ज्ञान कहीं चला थोड़े ही गया है मौजूद है परन्तु उसके उपयोग में वैद्यक ज्ञान आ रहा है वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी खाना पीना वगैरह लौकिक काम कर रहा हो तो उसके उपयोग में तो कर्म चेतना या कर्मफल चेतना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती है फिर भी अन्तरङ्ग में लब्धि रूप से ज्ञान चेतना बनी रहती है ऐसा सो पण्डित जी का यह कहना भूल भरा है क्योंकि चेतयते अनुभूयते उपयुज्यते इति चेतना इस प्रकार चेतना नाम ही जब उपयोग का है तो फिर लब्धि रूप चेतना चीज ही क्या रही, कुछ नहीं। अपितु जब इस जीव का उपयोग इष्टानिष्ट विकल्प से सर्वथा रहित पूर्ण वीतराग रूप होता है उस समय उसके ज्ञान चेतना होती है ताकि उसके बन्ध नहीं होता। किन्तु उससे नीचे सराग अवस्था में भले ही वह तत्वार्थश्रद्धान रूप वहिरात्मा हो चाहे सत्यश्रद्धान रूप अनुत्कृष्ट अन्तरात्मा, दोनों के ही अज्ञान चेतना होती है जो कि यथा सम्भव ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध करने वाली होती है जैसा कि कुन्द कुन्दाचार्य की पञ्चास्तिकाय में लिखा हुआ है देखो-

सव्वे खलु कम्म फलं थावरकाया तसा हि कज्ज जुदं ।
पाणित्तमदिक्कन्ता णाणं विन्दन्ति ते जीवा ।।३९।।

अर्थात् स्थावर एकेन्द्रिय जीव तो सभी एक कर्मफल चेतना को ही लिए हुए होते हैं। त्रसों में कर्म चेतना और कर्मफल चेतना वाले जीव होते हैं उनमें किसी के कर्म चेतना तथा किसी के कर्मफल चेतना होती है। किन्तु जो प्राणिपणे को उल्लंघन कर जाते हैं वे ज्ञान चेतना वाले होते हैं ऐसा सामान्य अर्थ है। अब इसमें आये हुए प्राणित्व शब्द का अर्थ श्वासोच्छवासादि प्राणुयुक्तता लिया जावे तो वह तो चौदहवे गुणस्थान तक रहता है अतः प्राणित्व से प्राणिपन यानि जन्म मरण रूपत्व को लेना होगा जो कि रागद्वेष पूर्वक ही होता है एवं रागद्वेष से जो पार हो गये उन वीतरागियों के ज्ञान चेतना होती है। बाकी जीवों के अज्ञान चेतना ऐसा स्पष्ट अर्थ हो जाता है।

शङ्का - आप ने कहा सो तो ठीक हमने सुना किन्तु भले ही वह सराग है फिर भी वह सम्यग्दृष्टि है तो उसका ज्ञान तो सम्यग्ज्ञान है उसके अज्ञान चेतना कैसी ?

उत्तर - सम्यग्ज्ञान के वर्णन में हमारे आगम ग्रन्थों में बतलाया गया है कि जो ज्ञान संशय विपर्ययअनध्यवसाय से रहित हो वही सम्यग्ज्ञान है अब अगर एक सम्यग्दृष्टि जीव अन्धकार वगैरह के कारण जेवड़ी को सर्प जान रहा है तो उस समय जानने की अपेक्षा विपर्यय होने से उसका वह ज्ञान मिथ्या ज्ञान हुआ फिर भी वह सम्यग्दर्शन के साथ में है इसलिए सम्यग्ज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

****

कहा जाता है बस तो ऐसे ही चतुर्थ गुणस्थान वाले का ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है मगर वह रागभाव को लिये हुए है अतः चेतना की अपेक्षा से अज्ञान चेतना रूप होता है ज्ञान चेतनामय नहीं होता ऐसा समझना चाहिए ।

आत्म मात्रगत बोध अन्त परिशोध सदा जिसका वाना,
हानादान विहीन भाव से वस्तु स्वरूप जान पाना ।
आदिमध्य चरमत्वरहित नित्य प्रभाव का अपनाना,
निर्मल एकरूप दर्पण ज्यों विकारका न जहां दाना ॥२१५॥

ऐसे अपने आपे पर ही दृष्टि आपकी को कीहो,
और तरफ से शक्ति आपकी को समेटि जिसने लीहो ।
वहीं त्याग वैराग्य वहीं तो द्वादशाङ्ग का ज्ञान भला,
सच्चीदृष्टि वही न जहां हो अन्य वस्तु परचित्त चला ॥२१६॥

मानस मतिश्रुत स्वरूप यहजो कुछ निज सम्वेदन है,
ज्ञान चेतनात्मक इस अनुभव बिना न चेतनमुक्ति लहे ।
भेदबोध शुक्लध्यान तथा जिसे स्वरूपाचरण कहो,
भव्य जीवके यत्न साध्य है जो अभव्य के कभी न हो ॥२१७॥

आत्मा का असाधारण स्वरूप एक ज्ञायकपन है जो कि सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया नाम वाले एकेन्द्रिय जीव के भी बना रहता है और केवल ज्ञानी भगवान के भी, जिसका कभी अभाव होता ही नहीं, आत्मा की हर अवस्था में विद्यमान रहता है । किसी भी चीज को लेने और छोड़ने रूप के विकल्प से रहित होते हुए सिर्फ दर्पण की तरह से वस्तु के स्वरूप को प्रगट करना जिसका काम है । बस तो रागद्वेष की वजह से और वस्तुओं को अपनाने से जो आत्मा का उपयोग चञ्चल बना हुआ है उसको और तरफ से हटा कर उपर्युक्त उस ज्ञायक स्वरूप आत्मा पर ही अपने उपयोग को जमा लेना उसी का नाम वास्तविक सम्यग्दृष्टिपन है । जोकि त्याग और वैराग्य बिना हो नहीं सकता और जिस के लिए मदद के रूप में द्वादशाङ्ग श्रुत ज्ञान की भी जरूरत होती है । बल्कि यों कहो कि उस द्वादशाङ्ग ज्ञान की सफलता उपर्युक्त आत्मानुभव से ही होती है उसके बिना वह कोरा शब्द ज्ञान ही शब्द ज्ञान रहता है । वह आत्मानुभव मानसिक मतिज्ञान पूर्वक श्रुत ज्ञान स्वरूप होता है जिसको कि शुद्ध स्वसम्वेदन कहा जाता है और जिसके हुए बिना इस आत्मा को मुक्ति प्राप्त नहीं हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकती । स्वरूपाचरण, शुक्लध्यान, भेदविज्ञान और शुद्धोपयोग इत्यादि सब उसी के नाम हैं । जोकि भव्यत्वशक्ति के पूर्ण परिपाक से प्राप्त होता है जिसके कि उत्तरक्षण में यह आत्मा ज्ञानावरणादि घातियाँ कर्मों का नाश करके पूर्ण ज्ञानी हो जाता है । जैसा कि पं. दौलतराम जी ने भी अपने छह ढालों में बतलाया है -

यों है सकल संयम चरित सुनिये स्वरूपाचरण अब । जिस होत प्रगटे आपनी निधि मिटे पर की प्रवृत्ति सब ॥७॥ जिन परम पैनी सुबुद्दि छैनी डारि अन्तर भेदिया । वरणादि अरुरागादि से निज भाव को न्यारा किया। निज माहि निज के हेतु निजकरि आपको आपे गह्यो । गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय मझार कुछ भेद न रह्यो ॥८॥ जहां ध्यान ध्याता ध्येय का न विकल्प वच भेद न जहाँ । चिद्भाव कर्म चिदेशकर्ता चेतना किरिया तहाँ ॥ तीनों अभिन्न अछिन्न शुद्ध उपयोग की निश्चल दशा । प्रगटी जहां दृग ज्ञान व्रत ये तीनधा एकैलसा ॥९॥ परमाणनय निक्षेप को न उद्योत अनुभव में दिखे । दृग ज्ञान सुख बल मय सदा नहीं आन भाव जुमोविखे । मैं साध्य साधक मैं अवाधक कर्म अरु तसुफलनितै । चितपिण्ड चण्ड अखण्ड सुगुण करणड च्युत पुनिकलनिते ॥१०॥ यों चिन्त्य निज में थिर भये तिन अकथ जो आनन्द लह्यो । सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्र के नाही कह्यो ॥ तब ही शुक्लध्यानाग्निकरि च उधातिविधिकाननदह्यो । सब लख्यो केवल ज्ञान करि भविलोक को शिवमग कह्यो ॥११॥ इस प्रकार से छह ढाले की इन साढ़े चार छन्दों में उपसंहार रूप में समूचे समयसार जी का सार आ गया है ।

प्रश्न - शुक्ल ध्यान तो सातवें गुण स्थान से ऊपर आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है अपितु स्वरूपाचरण तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रत सम्यग्दृष्टि के ही हो जाता है क्योंकि स्वरूपाचरण की घातक अनन्तानुवन्धि कषाय का उसके अभाव हो जाता है ऐसा हम तो समझे हुए हैं ।

उत्तर - भैया जी अनन्तानुवन्धि कषाय का काम तो अन्याय और अभक्ष्य में प्रवृत्ति रूप अभिप्राय का करना है जैसे कि अप्रत्याख्यानावरणं कषाय का काम श्रावक व्रत न लेने देने का है । स्वरूपे आसमन्ताच्चरणं अर्थात् आत्मानुभव में तल्लीन होकर रहना उससे विचलित न होना यह तो संज्वलनकषाय के भी न होने पर होता है। अनन्तानुबन्ध्यादि प्रत्याख्यानावरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** ***************************
पर्यन्त कषायें न होने से सकल चारित्र हो जाने पर भी जब तक इस जीव के संज्वलन कषाय का उदय रहता है तब तक इसको आत्मानुभव पर जमने नहीं देता । हां संज्वलन का भी जब तीव्र उदय न होकर मन्द उदय होता है तो यह जीव आत्मानुभव पर लगने की चेष्टा करता है और अपने पौरष से उसे (संज्वलन को) भी दबा कर या नष्ट करके अपने आप में लीन हो लेता है इसी को आत्मानुभव या आत्मानुभूति कहते हैं । इसी का नाम आगम भाषा में यथाख्यात चारित्र है । अब अगर वह कषाय को क्षय करके प्राप्त किया जाता है तब तो सदा के लिये बना रहने वाला क्षायिक चारित्र होकर क्षीणकषाय गुणस्थान कहा जाता है और अगर कषाय को दबाकर प्राप्त किया गया हुआ होता है तो उपशमोद्भव चारित्र नाम धारक उपशान्त गुण स्थान होता है जो कि अन्तमुहूर्त मात्र रहता है बाद में छूट कर नियम से परानुभूति रूप हो जाया करता है ।

प्रश्न – तो फिर क्या चतुर्थगुण स्थानवर्ती अव्रत सम्यग्दृष्टि को आत्मानुभूति नहीं होती ? अगर नहीं होती तो फिर सम्यक्त्व कैसा और मिथ्यात्व का अभाव क्या ?

उत्तर – चतुर्थगुण स्थान वाले को आत्मानुभूति न होकर आत्म विश्वास होता है जोकि मिथ्यात्व अवस्था में कभी नहीं हो पाता । मिथ्यात्व अवस्था में तो यह जीव आत्मतत्व को आत्मतत्व के रूप में न मान कर उसे और ही और तरह से मानता है किन्तु जब दर्शन मोह चला जाता है तो आत्मा को ठीक आत्मा के रूप में मानने लगता है फिर भी उसका अनुभव नहीं कर पंाता क्योंकि उसके जो चारित्र मोह का उदय होता है वह उस में बाधक होता है । अगर स्वरूपाचरण या आत्मानुभवन को दर्शन मोह के एवं अनन्तानुबन्धि कषाय के अभाव से ही होने वाला मान लिया जाय तो फिर भरत चक्रवर्ती सरीखे या श्रेणिक सरीखे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के जबकि उन (दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धि) का निर्मूलन हो चुका था, हर समय आत्मानुभव बना ही रहना चाहिए । तथा आत्मानुभव के रहते हुए और अनुभव- खाना, पीना, स्त्री सम्पर्क करना, भाई को भी मार डालने का इरादा करना यहां तक कि आत्मघात भी कर बैठना वगैरह नहीं बन सकता क्योंकि छद्मस्थ का अनुभव अर्थात् उपयोग एकान्वयी ही होता है। अगर कहा जाय कि उपयोग तो क्षणिक है अतः क्षायिक सम्यग्दृष्टि का उपयोग उन कार्यों में प्रवृत्त होकर भी क्षण में आत्मोन्मुखीं होता रहता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है परन्तु वाह्य रूप में वह उन क्रियाओं में ही प्रवृत्त दीखता है इत्यादि कहना भी ठीक नहीं क्योंकि आप लोगों के विचारानुसार तो आत्मोन्मुखता के सिवाय परोन्मुखता कर देने वाला मिथ्यात्व था वह तो नष्ट हो गया अतः परोन्मुख प्रवृत्ति होने के लिए समय मात्र के लिये भी तो अवसर रह नहीं पाता इसलिए मानना चाहिये कि दर्शनमोह के अभाव का कार्य आत्मविश्वास है वह अव्रत सम्यग्दृष्टि के होता है एवं अनन्तानुबन्धि के न होने से अन्याय- चेष्टा नहीं होती किन्तु आत्मानुभव तो चारित्र मोह के अभाव से होने वाला है जो परम समाधिकाल में होता है देखो - तस्मिन् परम समाधि काले नव पदार्थ मध्ये शुद्धनिश्चयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशतेऽनुभूयत इति या चानुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मोपलब्धिः साचैवनिश्चय सम्यक्त्व मिति । साचैवानुभूतिर्गुणगुणिनोर्निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां शुद्धात्मस्वरूपमितितात्पर्यं । समयसार गा. १३ की तात्पर्यवृत्तिः । हां कभी-कभी उस अव्रत सम्यग्दृष्टि के भी जब लेश्या की विशुद्धि होती है अशुभ लेश्या न होकर शुभ लेश्या का सद्भाव होता है तो उसको आत्मानुभव की तरफ झुकाने वाली भावना जरूर होती है फिर भी आत्मानुभव कुछ और ही चीज है जो कि बहुत दूर होता है । आत्मानुभूति का नाम सम्यक्त्व बताने वाले भी सिर्फ समयसार जी सरीखे अध्यात्म शास्त्र हैं जहाँ पर कि सम्यग्दर्शन और चारित्र को एक मान कर अभेदरत्नत्रय का वर्णन ही मुख्य होता है । सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को भिन्न रूप वर्णन करने वाले तत्वार्थ सूत्रादि में तो तत्वार्थ के श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन बतलाया है ।

प्रश्न - खैर । इस बात को रहने दीजिये यह बतलाइये कि जिस स्वानुभव को आप मति श्रुत ज्ञान स्वरूप परोक्ष ज्ञान बतला रहे हैं पञ्चाध्यायी कार राजमल जी वगैरह ने तो उसे प्रत्यक्ष ज्ञान लिखा है सो क्या बात है ?

उत्तर - भैया जी आत्मा को प्रत्यक्ष करने वाला तो एक केवल ज्ञान है जो कि क्षायिक भाव है । स्वानुभूत्या वरण के क्षयोपशम से होने वाला स्वानुभव नाम ज्ञान पञ्चाध्यायी के कथनानुसार ही क्षायो पशमिक भाव होने से केवल ज्ञान में तो आ नहीं सकता । अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान ये दोनों ज्ञान सिवाय मूर्तिक पदार्थ के और किसी भी पदार्थ को जानने में असमर्थ हैं अतः स्वानुभव जो विचारात्मक है वह (ध्यान रूप) श्रुत ज्ञान ही हो सकता है जो कि परोक्ष ही होता है । हाँ निश्चल स्थिरतात्मक होने से उसको उपचार से प्रत्यक्ष कहा जा सकता है । अस्तु । जैसे कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

************ ************************

एक रस्ते चलते हुए हाथी को कुछ जन्मान्धों ने अपने-अपने हाथ से छूया और फिर आपस में बात करने लगे कि कहो हाथी कैसा था । तो जिसने पैर को छूया था बोला-हाथी एक खम्भे सरीखा था, तब दूसरा जिसने उसकी सूंड को पकड़ा था वह बोला कि नहीं बल्कि हाथी तो एक मूसल सरीखा था । इतने में तीसरा जिसने उसके मुँह को टटोला था वह बोला नहीं भाई हाथी तो एक बड़े से पत्थर सरीखा था । तब जिसने पेट को टटोला था वह बोला वाह तुम भी ठीक नहीं कहते हाथी तो एक पर्वत सरीखा था । इस पर जिसने उसकी पूंछ को पकड़ पाया था वह बोला तुम सभी गलती पर हो हाथी तो एक लट्ठ सरीखा था । इन सबकी बात को काटकर जिसने उस हाथी के कान को पकड़ा था वह बोला कि भाई मैंने तो अच्छी तरह से देखा है हाथी तो एक छाज की शकल का था। मतलब यह कि सब लोग अपने-अपने परिचय के अनुसार हाथी को विकलाङ्ग रूप में मान कर एक दूसरे से झगड़ने लगे । बस ऐसा ही वस्तु स्वरूप के बारे में या आत्मा के बारे में अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों का विचार होता है । अब जिसने हांथी को आंखों से अच्छी तरह देखा है वह उन सबको कहे कि भाई तुम लोग बिलकुल झूटे भी नहीं तो पूरे सच्चे भी नहीं कहे जा सकते कारण तुम्हारा ज्ञान एकाङ्गी है तुम लोगों के कहे हुये को एक ढङ्ग से लगा लिया जाय तो हाथी का ठीक रूप बनता है । इस प्रकार से उसके कहने को सुन करके भी उन सब अङ्गों को यद्वा तद्वा अपने विचारानुसार लगा करके और का और ही रूप हाथी का फिर भी समझा जा सकता है किन्तु हाँ जिसकी बुद्धि कुछ निर्मल हो वह उन अङ्गों को अपनी बुद्धि में यथा स्थान ठीक लगा कर हाथी के सच्चे रूप को पहिचान लेता है उसी प्रकार से प्रत्यक्ष द्दष्टा सर्वज्ञ भगवान के आगम को सुन कर भी सभी लोग वस्तु के स्वरूप को यद्यपि ठीक नहीं समझ पाते किन्तु जिसका मोह गल जाने से बुद्धि में कुछ निर्मलता आ जाती है वह उन भगवान के कहने को यथोचित रूप से लगाकर तदनुरूप अपने विश्वास को कर लेता है वह अविरत सम्यग्द्दष्टि कहलाता है । किन्तु उन अन्धों में से जिसका मोतिया हटाकर दूर कर दिया गया हो अतः वह अब ऐनक लगाकर उस हाथी के रूप को उसके द्वारा कुछ धुंधलासा देखा करता है वैसे ही जिसका चारित्र मोह भी गल गया वह द्वादशाङ्गश्रुत ज्ञान की मदद से अपने आत्म स्वरूप को उसी प्रकार अनुभव करता है । तब-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं अमूर्त चेतन यह मूर्तिक शरीर भी मेरे से भिन्न,
और द्रव्य की कथा कौन मैं कौन के लिये होऊ खिन्न ।
पिण्ड पिण्ड का उपकारक भी होवे तो हो सकता है,
बादल अगर दूर जावे तो नभ का क्या खो सकता है ॥२१९॥

पिण्ड यानी भोजन करने से पिंण्ड अर्थात् शरीर के रक्तमाँसादि की वृद्धि होती है मेरे आत्मीक ज्ञानादि गुणों का तो इससे वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है । और शरीर जो कि उन माँसादिमय है वह जब तक है तभी तक तो संसार है यह शरीर जहां सर्वथा दूर हुआ कि संसार गया जिसके कि नष्ट होने से मेरी आत्मा का पूर्ण स्वभाव स्वतन्त्र स्पष्ट होता है जैसे बादलों के दूर होने से आकाश मात्र रह जाता है ।

यों विचार करके न कदाचित् भोजन को भी याद करे
वस्त्रादिक तो बड़ी चीज है पुस्तकादि भी नहीं धरे ।
ऐसे स्वरसलीन यतिवर को मुक्तिरमा तत्काल वरे,
जिसके यशको गाने से भी हम जैसों के पाप टरें ॥२२०॥

शङ्का – परम समाधि काल में तो न सही वह समाधि तो अन्तुमुर्हूत मात्र यानी अधिक से अधिक सवा सैतालिस मिनट तक ही एक साथ रहती है उतनी देर में जो कार्य बन गया तो बन गया परन्तु उस समाधि से ऊपर जीवन्मुक्त अवस्था में तो भोजन करना ही पड़ता होगा क्योंकि जैन शास्त्रानुसार ही वह अवस्था आठ वर्ष कम एक कोड़ पूर्व तक भी होती है सो इतने काल तक बिना अहार के यह देह टिका कैसे रह सकता है ?

उत्तर – प्रथम तो भोजन करना शरीर स्थिति के लिये कोई खाश कारण नहीं है क्योंकि एक आदमी भोजन करते-करते भी मर जाता है परन्तु दूसरा बिना भोजन के भी कितने ही दिन जिन्दा रहता हुआ देखा जाता है । दूसरी बात यह कि शरीर को वह विचार पूर्वक रखता है या उसका शरीर बना रहता है ? इनमें से पहली बात तो कही नहीं जा सकती दूसरी है सो ठीक ही है अर्थात् उसके जब तक नामादि अघातिया कर्मों की सत्ता होती है तब तक उसका शरीर बना रहता है । भोजन करने और न करने की कोई बात नहीं वह अवस्था तो अनपवर्त्य होती है ।

शङ्का – अनपवर्त्य दशा तो भोग भूमि वालों की भी होती है फिर वे भी तो भोजन करते हैं सो क्यों करते हैं? ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

*********** *************************

उत्तर – उनके तो आहार संज्ञा एवं भोजन करने की इच्छा पैदा होती है इसलिए भोजन लेना जरूरी हो जाता है किन्तु जीवन्मुक्त भगवान् के तो मोह का सर्वथा नाश हो जाता है अतः वहाँ इच्छा होती नहीं फिर उनके लिये भी भोजन का आरोप करना भूल से खाली नहीं है। उनकी खुद की तो बात एक और है बल्कि उनका यश गाने वाले अस्मदादि की भी भूख प्यास वगैरह की बाधा कम हो जाया करती है। अस्तु। मतलब कि–गृहस्थाश्रम की राज्यपाट सम्पदा स्त्री, पुत्र, धनादि को छोड़ कर मुनि हो गया वहां पर भी अगर यह भाव बना ही रहा कि इस शरीर से मैं मुनि धर्म जो कि मुक्ति का साधन है उसे पाल रहा हूँ अतः इसको यथा समय यथा साध्य भोजन देकर इसको स्थिर रखना जरूरी है और यह पुस्तक है इससे मुझे ज्ञान प्राप्त होता है अतः इसे भी सम्भाल कर रखना ठीक है इस तरह के पराश्रित भावों का लेश मात्र भी जहाँ तक बना रहेगा तब तक मुक्ति होना दुर्लभ है अपितु इन सब से भी उपर चलकर आत्मा जब आत्मध्यान में निमग्न बनता है तभी मुक्ति को प्राप्त कर सकता है सो ही कहते हैं–

गेहिपणा तो दूर रहो निज ज्ञान बिना निर्ग्रन्थपणा ।
धारण करने से भी कुछ भी नहीं मुक्ति का मार्ग बणा ॥
शरीर से भी निर्मम होकर दर्शन बोध चरित्र सने ।
तीर्थंकर से महापुरुष भी तभी मुक्ति के कान्त बने ॥२२१॥

यहां पर मूल ग्रन्थकार ने – पासंडीलिङ्गाणियगिहिलिङ्गा णिवबहुप्पयाराणि। घित्तुंवदन्तिमूढालिङ्गमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥४०८॥ इस प्रकार के शब्दों में लिखा है। इसका मतलब यह नहीं समझ लेना चाहिये कि आचार्य श्री ने मुनिपणे को मोक्ष का साधन नहीं माना है। किन्तु जो लोग ऐसा समझ कर कि वाह्यधन कुटम्बादि को त्याग कर नग्न दिगम्बर होना एवं पीछी कमण्डलु धारण करना मात्र ही मोक्ष का कारण है। अन्तरङ्ग की शुद्धि पर कोई विचार न लगा कर सिर्फ वाह्य से मुनि बणे हुए हैं भेषी मुनि हैं उन्हीं को मोक्ष मार्ग से दूर बतलाया है भाण्ड बहुरुपिये की तरह जो बनावटी मुनि होते हैं उन्हीं को पासण्डी कहा जाता है न कि अन्तरङ्ग वैराग्ययुक्त को भी। अन्यथा तो फिर ग्रन्थकार खुद भी तो मुनि ही थे और मोक्ष साधन के लिये ही बने थे। परन्तु अन्तरङ्ग के सच्चे वैराग्य के बिना मुनि बनना कोई कार्यकारी नहीं जैसा कि नीचे भी स्पष्ट करते हैं –

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देहाश्रित जो द्रव्य लिङ्ग है वह शिव पथ क्यों हो पावे ।
सम्यग्दर्शन बोध वृत्त को सत्पथ जिनवाणी गावे ।।
यदि अपना हित चाहो तो उस मोक्ष मार्ग से प्रेम करो ।
हे आत्मन् स्वालम्बी बनकर पर पदार्थ का मोह हरो ।।२२२।।

जिस से मोक्ष मार्ग स्पष्ट दीख पड़े उसे यहाँ पर लिङ्ग समझना चाहिए वह तीन तरह का है एक तो अठाईस मूल गुणधारक नग्न दिगम्बर महामुनि का । दूसरा ग्यारह प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक का और तीसरा स्त्रियों को लक्ष्य में लेकर आर्यिका का जहाँ कि सिर्फ एक सोला हाथ की साड़ी मात्र रखते हुये प्रायः और सब क्रियायें मुनियों की सी पाली जाती हैं जिसका कि स्पष्ट वर्णन चरणानुयोग के शास्त्र में है । बस इन तीन के सिवा और कोई लिङ्ग नहीं होता जैसा कि श्री कुन्द कुन्दाचार्य के ही बनाये हुए दूसरे ग्रन्थ (दर्शनपाहुड) में लिखा है – एकंजिणस्सरुवंवीयं उक्किट्ठसावयाणान्तु। अवरट्ठियाणतयियं च उथं लिङ्गन्तुदंसणेणप्थि । अब यह लिङ्ग अगर भावों से रहित होकर सिर्फ उपर में शरीर से ही ग्रहण किया हुआ हो तो वह द्रव्यलिङ्ग कहलाता है । जोकि लिङ्ग मोक्ष का साधक न होकर दिखाऊ माना जाता है क्योंकि मोक्ष के देने वाले तो इस आत्मा के सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक चारित्र हैं जोकि वहाँ पर होते ही नहीं । जैसे कि बाल सिरा होकर भी अगर उसमें अनाज का एक कण भी न हो तो फिर वह तो केवल कहने की बाल है उससे हमारी भूख नहीं भग सकती । भूख मिटाने की चीज तो अनाज है वह वहां होता है, उसके बिना नहीं होता इसलिए हमलोग उसे अन्न के लिये देखा करते हैं वैसे ही –

निर्विकार निज सम्वेदन मय भावलिङ्ग सहकारितया ।
यथा जातपन भी उपयोगी मोक्ष मार्ग में कहा गया ।।
उसके अभ्यास के लिये कम जोरी में छुल्लकता भी ।
किन्तु उसी में मग्न, नहीं वह पावे समयसारनाभी ।।२२३।।

यथाजात नग्न परम दिगम्बर अवस्था रूप व्रत स्वीकार किये बिना, आत्मानुभवरूप अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हो सकती । इसलिये तद्भव रूप से उसको भी मोक्ष मार्ग कहा जाता है । इसके सिवाय बाकी के सागारिता को लिए हुए उपर्युक्त छुल्लकपना और आर्यिकापना ये दोनों तो सिर्फ उस के भी अभ्यास के लिये लाचारी में स्वीकार किये जाते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनाज के लिये बाल की तरह न होकर पराल की भांति अतद्भव रूप होते हैं। उनको भी तद्भव रूप से मोक्ष के लिए मानना भूल है इसी बात को स्पष्ट करने के लिये इन्हीं श्री कुन्द कुन्द जी ने अपने दूसरे ग्रन्थ में नग्गेविमोक्खमग्गोसेसा उम्मग्गया सव्वे इस प्रकार लिखा है सो समझ लेना चाहिए और मोक्ष मार्ग के योग्यवेश को धारण करके श्री समयसार जी के अभ्यास द्वारा शुद्धात्मा के स्वरूप को पहिचानना चाहिये क्योंकि-

समयसार अभ्यास से होवे उदय विवेक ।
स्वयं शुद्ध चेतन बने यही मुक्ति की टेक ॥२२४॥

समयसार रूप शुद्धात्मा परमात्मा परमेश्वर का ध्यान करने से विवेक प्रगट होकर समस्त प्रकार के दुष्कर्मों से दूर हट कर हमारा आत्माराम भी स्वयं शुद्ध बन सकता है। और उसी का नाम मोक्ष भी है।

इस प्रकार श्री ज्ञानभूषण (पं. भूरामल) जी महाराज के बनाये हुए इस शास्त्र में सर्व विशुद्धि नाम का यह अधिकार पूरा हुआ।

यह ग्रन्थ भी पूर्ण हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवि का अन्तिम निवेदन

भूल चूक को टाल करि,
राग रोष से हीन ॥
महा पुरुष इसको पढ़े,
लहे सुख स्वाधीन ॥२२५॥
निर्णय इसके से सहज,
मिटे जीवन की भूल ॥
तत्व रूचि बने चित्त में,
है यों यह सुख मूल ॥२२६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

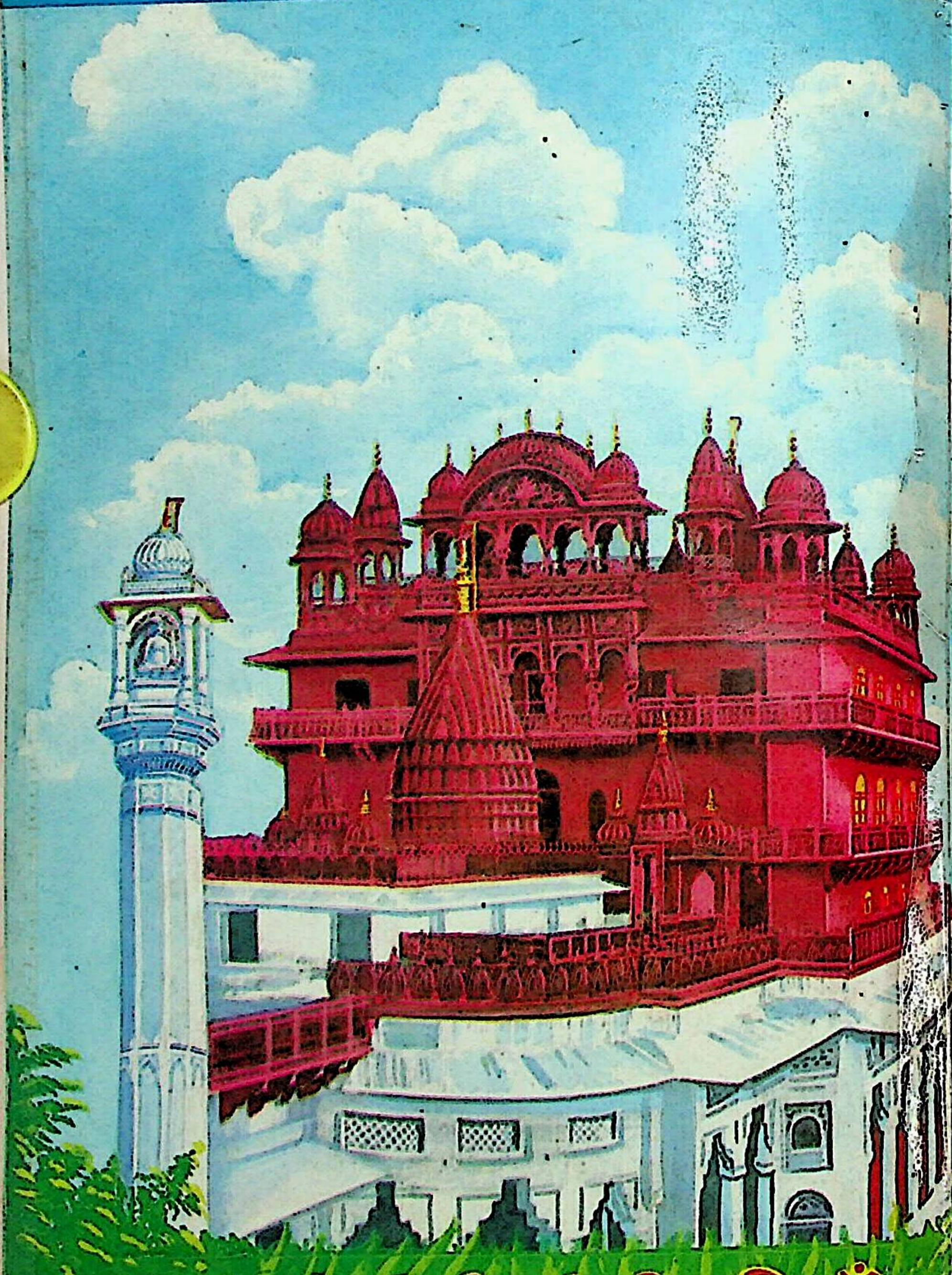

श्री सोनी जी की नसियाँ

अजमेर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi